विचार-वल्लरी

(विचार-प्रधान निबन्धो का प्रेरक सकलन)

सम्पादक

जैनेन्द्र कुमार

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली बम्बई इलाहाबाद नई दिल्ली

प्रतिवाद की स्पर्द्धा से शैली का प्रमाद नष्ट हो जाता है। प्रसाद उत्तम निबन्ध का प्रथम गुण है।

सिर्फ परिचय या बोध में से उत्तम निबन्ध की सृष्टि कठिन होती है। उसमें अनुभूति का पुट आवश्यक है जो साधना से ही आती है। प्रतीत होना चाहिए कि जो कहा जा रहा है वह श्रम-साध्य नहीं है, मस्तिष्क का व्यायाम नहीं है, प्रत्युत् जीवनानुभूति का सहज स्फुरण है। इस सग्रह मे जो रचनाएँ है अधिकाशत वे मुझे ऐसी ही प्रतीत हुई है।

हिन्दी समूचे भारत की भाषा है। तदनुसार इस पुस्तक के चुनाव में कहना चाहिए कि प्रान्त नहीं पूरा राष्ट्र ही है। अत कतिपय निबन्ध ऐसे भी है जो हिन्दी मे अनूदित हैं फिर भी हिन्दी के लिए उन्हे सर्वथा अमौलिक नहीं कहना होगा, कारण, हिन्दी को खासकर अब, अपने मे सभी प्रान्तो और प्रान्तीय भाषाओं का सार सचित करके बढना है। हिन्दी की शैली उत्तरोत्तर भाषा की जकड से भाव की मुक्ति की ओर बढ़ रही है। इस कारण भाषा भी अधिक सफल, व्यापक, प्रवाही और सूक्ष्मग्राही होती जा रही है। साहित्य मे भाषा तो आनुषगिक है, भाव-प्रधान है। भावोत्कर्ष मे से भाषा को आप ही उत्कृष्टता और प्रभविष्णुता प्राप्त होती जाती है।

साहित्य को सकीर्ण वृत्त मे देखना आज सम्भव नहीं है। जीवन की सम्पूर्ण व्यापकता का उसमे प्रतिबिम्ब है। वह कोई अलग विद्या या कला नहीं है। उसे एक हुनर नहीं समझा जा सकता। उसमे उन सबके लिए स्थान है जो आत्म-साधना मे से सूक्ष्मानुभूतियो का योग प्राप्त करते और उन्हे प्रकाश देते है। साधना की कोई निश्चित पद्धति अथवा प्रकार नहीं है। किसी भी क्षेत्र मे से साधक अपनी अनुभूतियो का सचय करके शब्दो के किसी भी रूप द्वारा उन्हे प्रकाशित कर सकता है। वह रूप उद्बोधन-प्रवचन हो सकता है, और आलाप-सलाप अथवा निबन्ध-लेखन भी हो सकता है। गाधी, विवेकानन्द, बकिम,

विनोबा तथा कालेलकर आदि हिन्दी से इतर भाषा-भाषी सत्पुरुषों का समावेश इस दृष्टि से पुस्तक की साहित्यिक सार्थकता को बढाने वाला ही मानना चाहिए।

आशा है यह चयन उपादेय और विद्यार्थियों के जीवन को समर्थ बनाने मे सहायक सिद्ध होगा।

७, दरियागंज
दिल्ली।

—जैनेन्द्र कुमार

आभार

जिन विचारको तथा प्रकाशको की अनुमति से हम इस पुस्तक को ऐसा प्रतिनिधि सकलन बनाने मे सफल हुए हैं, हम उनके हार्दिक आभारी है। यदि हमे इस प्रयास मे उनका सक्रिय सहयोग न मिलता तो ऐसा सग्रह कदापि प्रस्तुत न किया जा सकता। हम यहाँ पाठको के मार्ग प्रदर्शन के लिए लेखो का मूल स्रोत दे रहे हैं जिससे और अधिक अध्ययन करने में उन्हे सुविधा हो। साथ ही इस सूची मे आभार-प्रदर्शन के लिए लेखको तथा प्रकाशको का उल्लेख है—

१ *नीति धर्म* : सस्ता साहित्य मण्डल द्वारा प्रकाशित 'धमनीति' से, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद के सौजन्य स्वरूप।

२ *सर्व धर्म समन्वय* 'नवयुग' साप्ताहिक, दिल्ली से।

३ *सामाजिक भूमिका* सस्ता साहित्य मण्डल द्वारा प्रकाशित 'लोक-जीवन' से, लेखक के सौजन्य स्वरूप।

४ *जीवन और शिक्षण* : सस्ता साहित्य मण्डल द्वारा प्रकाशित 'विनोबा के विचार' से, ग्राम-सेवा मण्डल, नालवाडी वर्धा के सौजन्य स्वरूप।

५ *समष्टि और व्यक्ति* : 'हिमालय' पटना से, लेखक के सौजन्य स्वरूप।

६ *जीवन मे साहित्य का स्थान* हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित 'कुछ विचार' से, श्री अमृतराय के सौजन्य स्वरूप।

७ *धर्मस्य तत्त्व निहित गुहायाम्* : ज्ञान मण्डल, काशी द्वारा प्रकाशित 'कल्प लता' से, लेखक के सौजन्य स्वरूप।

८ *जिज्ञासा* : 'हिन्दी विश्व भारती' लखनऊ से, लेखक के सौजन्य स्वरूप।

६ *व्यक्तित्व* · 'युगारम्भ' जबलपुर के 'माखनलाल-अभिनन्दन अंक' से, लेखक के सौजन्य स्वरूप।

१० *मनुष्यत्व क्या है* · हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई द्वारा प्रकाशित 'बंकिम निबन्धावली' से, प्रकाशक के सौजन्य स्वरूप।

११ *कर्तव्य क्या है* · रामकृष्ण आश्रम, नागपुर द्वारा प्रकाशित 'कर्मयोग' से।

१२ *मन की दृढता* · नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'भट्ट निबन्ध माला' से, प्रकाशक के सौजन्य स्वरूप।

१३ *विश्वास का चमत्कार* · पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'जवानो' से, प्रकाशक के सौजन्य स्वरूप।

१४ *धोखा* नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी निबन्ध माला (भाग २)' से, प्रकाशक के सौजन्य स्वरूप।

१५ *लोभ* · नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के सौजन्य स्वरूप।

१६ *करुणा* · इण्डियन प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित 'चिन्तामणि' से।

१७ *धीर* · नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी निबन्ध माला (भाग १)' से, लेखक के सौजन्य स्वरूप।

१८ *हीन-भावना* · आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'दृष्टिकोण' से, प्रकाशक के सौजन्य स्वरूप।

१६ *कल्पना* : साहित्य रत्न भण्डार, आगरा द्वारा प्रकाशित 'कला, कल्पना और साहित्य' से, लेखक के सौजन्य स्वरूप।

२० *चेतना-प्रवाह* : पजाब यूनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित 'विचार विमर्श' से, लेखक के सौजन्य स्वरूप ।

२१ *इच्छा-शक्ति* : ज्ञानमण्डल, काशी द्वारा प्रकाशित 'विज्ञान की प्रगति' से, लेखक के सौजन्य स्वरूप ।

२२ *सुख की खोज* हिन्दी पुस्तक एजेंसी, बनारस द्वारा प्रकाशित 'व्यक्ति और राज्य' से, लेखक के सौजन्य स्वरूप ।

२३ *पैसा कमाई और भिखाई* ' हिन्दी प्रकाशन मन्दिर, प्रयाग द्वारा प्रकाशित 'जड की बात' से, लेखक के सौजन्य स्वरूप ।

—प्रकाशक

निबन्ध सूची

वैसे ही आचरण न किया हो तो नीति का विचार नक्शो की तरह बेकार हो जाता है। बहुतरे नीति के वचन याद करते है, उस विषय पर भाषण करते है, पर उसके अनुसार चलते नहीं और चलना चाहते भी नहीं। कितने ही तो यह मानते है कि नीति के विचार को इस लोक मे नहीं, परलोक मे अमल में लाना चाहिए यह कुछ सराहने लायक विचार नहीं माना जा सकता। एक विचारवान मनुष्य ने कहा है कि हमे सम्पूर्ण होना हो तो हमे आज से ही नीति के अनुसार चलना है, चाहे इसमे कितने ही कष्ट क्यो न सहन करने पड़े। ऐसे विचार सुनकर हमे चौक न उठना चाहिए, बल्कि अपनी जिम्मेवारी समझकर तदनुसार व्यवहार करने मे प्रसन्न होना चाहिए। महान् योद्धा पेम्ब्रोक जब ओबेरोक के युद्ध की समाप्ति पर अर्ल डरबी से मिला तो उन्होने उसे खबर दी कि लडाई जीत ली गई। इस सूचना पर पेम्ब्रोक बोल उठा, "आपने मेरे साथ भलमनसी नहीं बरती। मुझे जो मान मिलता वह आपने मेरे हाथ से छीन लिया, मुझे लडाई मे शामिल होने को बुलाया तो फिर मेरे पहुँचने के पहले लडाई नहीं लडनी थी।" इस प्रकार नीति-मार्ग में जब किसी को जिम्मेवारी लेने का हौसला हो तभी वह उस रास्ते पर चल सकेगा।

खुदा या ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, सम्पूर्ण है, उसके बडप्पन, उसकी दया, उसके न्याय की सीमा नहीं है। अगर ऐसी बात है तो हम लोग, जो उसके बन्दे समझे जाते है, नीति-मार्ग को कैसे छोड़ सकते है? नीति का आचरण करने वाला विफल हो तो इसमे कुछ नीति का दोष नहीं है, बल्कि जो लोग नीति भग करते है, वे ही अपने-आपको दोष-भाजन बताते है।

नीति-मार्ग मे नीति का पालन करके उसका प्रतिफल प्राप्त करने की बात आती ही नहीं। मनुष्य कोई भला काम करता है तो शाबाशी पाने के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि भलाई किये

बिना उससे रहा नहीं जाता। खुराक और भलाई दोनो की तुलना करने पर भलाई ऊँचे प्रकार का आहार सिद्ध होगी और कोई दूसरा आदमी भलाई करने का अवसर दे तो भलाई करने वाला अवसर देने वाले का अहसानमन्द होता है, वैसे ही जैसे भूखा अन्न देने वाले को दुआएँ देता है।

यह नीति-मार्ग ऐसा नहीं है कि उसकी बात करते हुए बिलकुल ऊपर-ऊपर से मनुष्यता आ जाय। उसका अर्थ यह नहीं है कि हम थोडे अधिक मेहनती हो जायँ, थोडा अधिक पढ लिख लें, थोडा अधिक साफ सुथरे रहें, इत्यादि। यह सब उसके अन्दर आता है, पर इतने के मानी तो यह हुए कि हम महज सरहद पर पहुँच पाए। इस मार्ग के अन्दर इनके सिवा और बहुत-कुछ मनुष्यो को करना होता है और वह सब यह समझकर करना होता है कि वह हमारा कर्तव्य है, हमारा स्वभाव है—यह सोचकर नहीं कि वैसा करन से हमारा कोई लाभ होगा।

नीति-विषयक प्रचलित विचार वजनदार नहीं कहे जा सकते। कुछ लोग तो मानते है कि हमे नीति की बहुत परवाह नहीं करनी है। कुछ मानते है कि धर्म और नीति मे कोई लगाव नहीं है। पर दुनिया के धर्मो को बारीकी से देखा जाय तो पता चलेगा कि नीति के बिना धर्म टिक ही नहीं सकता। सच्ची नीति मे धर्म का समावेश अधिकाश मे हो जाता है। जो अपने स्वार्थ के लिए नहीं, बल्कि नीति की खातिर नीति के नियमो का पालन करता है, उसको धार्मिक कह सकते है। रूस मे ऐसे आदमी है जो देश के भले के लिए अपना जीवन अर्पण कर देते है। ऐसे लोगो को नीतिमान् समझना चाहिए। जेरेमी बेथम को, जिसने इग्लैण्ड के लिए बहुत अच्छे कानूनो के नियम ढूँढ निकाले, जिसने अग्रेज जनता मे शिक्षा के प्रसार के लिए भारी प्रयास किया और जिसने कैदियो की दशा सुधारने के यत्न मे जबर्दस्त हिस्सा लिया, नीतिमान्

मान सकते हैं।

फिर सच्ची नीति का यह नियम है कि हम जिस रास्ते को जानते हो उसको पकड लेना ही काफी नहीं है, बल्कि जिसके बारे मे हम जानते हो कि वह सही रास्ता है—फिर उस रास्ते से हम वाकिफ हो या न हों—उस पर हमे चलना ही चाहिए। यानी जब हम जानते हो कि अमुक रास्ता सही है, सच्चा है, तब निर्भय होकर उस पर कदम बढा ही देना चाहिए। इसी नीति का पालन किया जाय तभी हम आगे बढ सकते हैं। इसलिए नीति और सच्ची सभ्यता तथा सच्ची उन्नति सदा एक साथ देखने मे आती हैं।

अपनी इच्छाओ की जॉच करे तो हम देखेगे कि जो चीज हमारे पास होती है उसको लेना नहीं होता। जो चीज अपने पास नहीं होती उसकी कीमत हम सदा ज्यादा ऑकते है। पर इच्छा दो प्रकार की होती है। एक तो होती है अपना निज का स्वार्थ साधने की। ऐसी इच्छा को पूरा करने के प्रयत्न का नाम अनीति है। दूसरी प्रकार की इच्छाएं ऐसी होती है कि हमारा झुकाव सदा भला होने और दूसरो का भला करने की ओर होता है। हम कोई भला काम करे तो उस पर हमे गर्व से फूल न जाना चाहिए। हमे उसका मूल्य नहीं ऑकना है, बल्कि सदा अधिक भला होने और अधिक भलाई करने की इच्छा करते रहना चाहिए। ऐसी इच्छाओं को पूरा करने के लिए जो आचरण किया जाय उसको सच्ची नीति कहते हैं।

हमारे पास घर-बार न हो तो इसमे लज्जित होने की कोई बात नहीं है, पर घर-बार हो और उसका दुरुपयोग करे, जो धन्धा रोजगार करे उसमे लोगों को ठगे तो हम नीति के मार्ग से च्युत हो गए। जो करना हमे उचित है, उसे करने मे नीति है। इस तरह नीति की आवश्यकता हम कितने ही उदाहरणो से सिद्ध कर

सकते हैं। जिस जन-समाज और कुटुम्ब मे अनीति के बीज—जैसे फूट, असत्य इत्यादि—देखने मे आते हैं वह जन-समाज, कुटुम्ब गिरकर टूट जाता है। फिर धन्धे-रोजगार की मिसाल ली जाय तो हम देखेगे कि ऐसा आदमी एक भी नहीं दिखाई देता जो यह कह सके कि सत्य का पालन नहीं करना चाहिए। न्याय और भलाई का असर कुछ बाहर से नहीं हो सकता, वह तो हममे ही रहता है। चार सौ साल पहले यूरोप में अन्याय और असत्य अति प्रबल थे। वह समय ऐसा था कि लोग घड़ी-भर शान्ति से न रह सकते थे। इसका कारण यह था कि लोगो में नीति न थी। हम नीति के समस्त नियमो का दोहन करे तो देखेगे कि मानव-जाति का भला करने का प्रयास ही ऊँची नीति है। इस कुञ्जी से नीति रूपी सन्दूक को खोलकर देखा जाय तो नीति के दूसरे नियम हमे मिल जायँगे।

क्या हम यह कह सकते है कि अमुक काम नीतियुक्त है ? यह सवाल करने मे नीति वाले और बिना नीति के कामो की तुलना करने का हेतु नहीं है, बल्कि जिन कामो के खिलाफ लोग कुछ कहते नहीं, और कितने ही जिन्हे नीतियुक्त मानते है, उनके विषय मे विचार करना है। हमारे बहुतेरे कामो मे खास तौर से नीति का समावेश नहीं होता। अधिकतर हम लोग साधारण रीति-रिवाज के अनुसार आचरण करते हैं। इस तरह रूढि के अनुसार चलना बहुत समय आवश्यक होता है। वैसे नियमो का अनुसरण हम न करे तो अन्धाधुन्धी चलने लगे और दुनिया का कार-बार बन्द हो जाय, पर यो रूढि के पीछे चलने को नीति का नाम देना मुनासिब नहीं कहा जा सकता।

नीतियुक्त काम तो वह कहा जाना चाहिए जो हमारा अपना है, यानी जो हमारी इच्छा से किया गया हो। जब तक हम मशीन के पुरजे की तरह काम करते हों तब तक हमारे काम मे नीति का

प्रवेश नहीं होता। मशीन के पुरजे की तरह काम करना हमारा फर्ज हो और हम करें तो यह विचार नीतियुक्त है, क्योंकि हम उसमें विवेक-बुद्धि से काम लेते है। यान्त्रिक काम और वह काम करने का विचार करना, इन दोनों मे जो भेद है वह ध्यान मे रखने योग्य है। राजा किसी का अपराध माफ कर दे तो उसका यह काम नीतियुक्त हो सकता है। माफी की चिट्ठी ले जाने वाले चपरासी का राजा के किये हुए नियमित कार्य मे यान्त्रिक भाग है। हॉ चपरासी यह समझकर चिट्ठी ले जाय कि चिट्ठी ले जाना उसका फर्ज है तो उसका काम नीतियुक्त हो सकता है। जो आदमी अपनी बुद्धि और दिमाग से काम नहीं लेता और जैसे लकडी बहती है वैसे ही प्रवाह मे बहता जाता है, वह नीति को कैसे समझेगा ? कितनी ही बार मनुष्य रूढि के विरुद्ध होकर प्रमाद करने के इरादे से कर्म करता है। महावीर वेंडल फिलिप्स ऐसा ही पुरुष था। उसने एक बार लोगो के सामने भाषण करते हुए कहा था, "जब तक तुम लोग खुद विचार करना और उसे प्रकट करना नहीं सीख लेते तब तक मेरे बारे मे तुम क्या सोचते हो इसकी मुझे चिन्ता नहीं है।" यह स्थिति हमे तब तक प्राप्त नही होने की जब तक कि हम यह मानने और अनुभव न करने लगे कि सबका अन्तर्यामी ईश्वर हम सबके कार्य का साक्षी है।

इस तरह किया हुआ काम स्वत अच्छा हो इतना ही काफी नहीं है। वह काम हमने अच्छा करने के इरादे से किया हो यह भी जरूरी है, अर्थात् कार्य-विशेष मे नीति होना अथवा न होना करने वाले के इरादे पर अवलम्बित होता है। दो आदमियों ने एक ही काम किया हो, फिर भी एक का काम नीतियुक्त माना जा सकता है, दूसरे का नीतिरहित। जैसे एक आदमी दया से द्रवित होकर दरिद्रो को खाना देता है, दूसरा मान प्राप्त करने या इसी तरह के स्वार्थी विचार से वही काम करता है। दोनो का काम एक

ही है। फिर भी पहले का काम नीतियुक्त माना जायगा और दूसरे का नीतिरहित। नीतियुक्त और नीतिरहित शब्दो के बीच जो अन्तर है, वह यहाँ याद रखना है। यह भी हो सकता है कि नीतियुक्त काम का असर अच्छा हुआ, यदि सदा दिखाई न दे सके। नीति के विषय मे विचार करते हुए हमे इतना ही देखना है कि किया हुआ काम शुभ है और शुद्ध हेतु से किया हुआ है। उसके फल पर हमारा वश नहीं, फल देने वाला तो एकमात्र ईश्वर है। शहशाह सिकन्दर को इतिहासकारो ने महान् माना है। वह जहाँ-जहाँ गया वहाँ-वहाँ यूनानी शिक्षा, शिल्प, प्रथाओ आदि को प्रचलित किया और उसका फल हम स्वाद से चख रहे हैं। पर यह सब करने का उद्देश्य बड़प्पन पाना था, अत कौन कह सकेगा कि उसके काम मे नीति थी? वह महान् भले ही कहलाए, पर नीतिवान् नहीं कहा जा सकता।

ऊपर प्रकट किये हुए विचारो से साबित होता है कि प्रत्येक नीतियुक्त कार्य नेक इरादे से किया हो, इतना ही काफी नहीं है बल्कि वह बिना दबाव के भी किया हुआ होना चाहिए। मैं दफ्तर देर से पहुँचूँ तो नौकरी से हाथ धोऊँगा, इस डर से मै तड़के उठूँ तो इसमे रत्ती-भर भी नीति नही है। इसी तरह मेरे पास पैसा न हो, इसलिए मै गरीबी और सादगी की जिन्दगी बिताऊँ तो इसमे भी नीति का योग नहीं है, पर मै धनवान् होते हुए भी सोचूँ कि मै अपने आसपास दरिद्रता और दुःख देख रहा हूँ, ऐसे समय मुझसे ऐश-आराम किस तरह भोगा जा सकता है, मुझे भी गरीबी और सादगी से रहना चाहिए तो इस प्रकार अपनाई हुई सादगी नीतिमय मानी जायगी। इसी तरह नौकर छोडकर भाग जायँगे, इस डर से उनके साथ हमदर्दी दिखाई जाय या उन्हे अच्छी या अधिक तनख्वाह दी जाय तो इसमे नीति नहीं रहती बल्कि इसका नाम स्वार्थ-बुद्धि है। मै उनका भला चाहूँ, मेरी

समृद्धि मे उनका हिस्सा है, यह समझकर उन्हे रखूँ तो इसमे नीति हो सकती है, अर्थात् नीतिपूर्वक किया हुआ काम वह होगा जो जोर-जबर्दस्ती या डरकर न किया गया हो। इंग्लैण्ड क राजा दूसरे रिचर्ड के पास जब आँखें लाल किये हुए किसानो का समुदाय अनेक अधिकार माँगने पहुँचा तो उसने अपने हाथ से अधिकार-पत्र लिखकर उनके हवाले कर दिया, पर जब किसानो का डर दूर हो गया तब उस फरमान को उसने जोर-जुल्म से वापस ले लिया। अब कोई कहे कि रिचर्ड का पहला काम नीति-युक्त था तो यह उसकी भूल है। रिचर्ड का पहला काम केवल भय से किया गया था, इसलिए नीति उसमे छू तक नहीं गई थी।

जैसे नीतियुक्त काम मे डर या जोर-जबर्दस्ती न होनी चाहिए वैसे ही उसमे स्वार्थ भी न होना चाहिए। ऐसा कहने मे यह हेतु नहीं है कि जिस काम मे स्वार्थ हो वह बुरा है। पर उस काम को नीतियुक्त कहे तो यह नीति को धब्बा लगाने के समान है। ईमानदारी अच्छी पॉलिसी (व्यावहारिक नीति) है, यह सोचकर अपनाई हुई ईमानदारी अधिक दिन नहीं टिक सकती। शेक्सपियर कहता है कि जो प्रीति लाभ की दृष्टि से की गई हो वह प्रीति नहीं।

जैसे इस लोक मे लाभ के उद्देश्य से किया हुआ काम नीति-युक्त नहीं माना जा सकता वैसे ही परलोक मे लाभ मिलेगा, इस आशा से किया हुआ काम भी नीतिरहित है। भलाई भलाई के लिए ही करनी है, यो समझकर किया हुआ काम नीतिमय माना जायगा। महान् जेवियर ने ईश्वर से प्रार्थना की थी कि मेरा मन सदा स्वच्छ रहे। उसके मत से भगवान् की भक्ति इसलिए नहीं करनी थी कि मरने के बाद उत्तम दशा भोगने को मिले, वह भक्ति इसलिए करता था कि यह मनुष्य का कर्तव्य है। महान् भगवद्भक्त थेरिसा अपने दाहिने हाथ मे मसाल और बाएँ हाथ मे पानी की बाल्टी यह जताने के लिए रखना चाहती थी कि मसाल से स्वर्ग

के सुख को जला डाले और पानी से दोजख की आग को बुझा दे, जिससे मनुष्य दोजख के भय के बिना खुदा की इबादत करे। इस तरह की नीति का पालन उस आदमी का काम है जो सिर पर कफन बाँधे फिरता हो। मित्र के साथ तो सच्चे रहना और दुश्मन से दगाबाजी करना यह नामर्दी का काम है। डर-डरकर भले काम करने वाला नीतिरहित ही माना जायगा। हेनरी क्लेबक दयालु और स्नेह-भरे स्वभाव का माना जाता था। उसने अपने लोभ के आगे अपनी नीति की बलि दे दी। डेनियल वेस्टर वीर पुरुष था, पर पैसे के लिए एक बार वह कातर हो गया एक हल्के काम से अपने दूसरे अच्छे कामों को धो डाला। इस उदाहरण से हम देखते है कि मनुष्य की नीति की परीक्षा करना कठिन है, क्योंकि उसके मन की परख हम नहीं कर सकते।

• २ •

सर्व-धर्म-समन्वय

(डॉक्टर भगवानदास)

कुछ विद्वानो के मतानुसार बाद मे पैदा हुए धर्मो ने पहले धर्मों का अनुकरण किया है, पर यह प्रश्न केवल कुछ विद्वानो के लिए ऐतिहासिक महत्त्व का हो सकता है, सर्वसाधारण का इससे क्या सम्बन्ध ? पर यदि पश्चाद्वर्ती धर्मो ने पहले धर्मो का अनुकरण और अनुसरण-मात्र किया भी है तो इससे यह प्रश्न उठता है कि उन्होने ऐसा क्यो किया है। क्या इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि 'अमर सत्य' केवल एक है और वह सभी पर छा जाता है, सत्य का अनुकरण और अनुसरण तो सबको करना ही चाहिए। आखिर नई पीढियाँ पुरानी पीढियो से ही तो जन्मी है—पुरानी बस्तियो से नये राष्ट्रो का जन्म हो रहा है, पुराने दीपों से नये दीपक जलाये जा रहे है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जीवन, प्रकाश और शक्ति के रूप भले ही बदल जायँ, पर वे है अनन्त। इन तीनो चीजो को कोई नहीं बनाता, ये ही सबको बनाती है। यदि अनुकरण की हुई वस्तु मे सत्य है तो ऐसा अनुकरण और अनुसरण तो वाञ्छनीय है। यदि कोई नई या मौलिक वस्तु ऐसी तैयार की जाय जो असत्य पर आधारभूत हो तो यह तो एक लज्जाजनक और अपमानपूर्ण बात होगी। इस परिवर्तनशील जगत् मे सत्य के अतिरिक्त और कोई मौलिक बात हो ही

नहीं सकती। किन्तु अनुकरण का अर्थ सकुचित नही होना चाहिए। जीवन की सरिता तो बह रही है, जो प्यासा होगा और जिसे जल की आवश्यकता होगी वह अपना घट उसमे से भर ही लेगा।

तुलनात्मक धर्मों के कुछ विद्यार्थी कह सकते है कि जब सब धर्मो मे अधिकाश रूप मे भाव-साहश्य है तो प्रत्येक धर्म न अपने पूर्ववर्ती धर्मो की नकल की होगी। पर जैसा कि हम ऊपर कह आए है, नकल या अनुकरण करना उस अवस्था मे बुरा नहीं है जब कि उसका आधार सत्य है। सचाई की नकल करने वाले को कभी लज्जित नहीं होना पडेगा, हॉ, मिथ्या का अनुकरण करने वाले को अन्तत अवश्य लज्जित होना पडेगा।

मनोविज्ञान के कुछ पण्डितो का कथन है कि धर्म या मत चलाने वाले व्यक्ति अथवा तत्त्वज्ञानियो का उद्भव 'वातावरण-जन्य' ऐतिहासिक या भौतिक परिस्थितियो के कारण हो जाता है, पर यदि यह व्याख्या मान ली जाय तो यह प्रश्न और उठते है कि विलक्षणताओं की दृष्टि से यह बात मान्य होते हुए भी मौलिक सामान्यता को हल नहीं कर पाती और मनुष्य इन परिस्थितियो का शिकार क्यों और कैसे बन जाता है। इस प्रकार प्रश्नोत्तर और कथोपकथन का अन्त नहीं होता, पर यह निर्विवाद सत्य कायम ही रहता है कि विविध धर्मो का प्रचलन हुआ है जो मानव-जीवन मे महत्त्वपूर्ण काय कर रहे है।

इन धर्मो के समन्वय की आवश्यकता है। प्रत्येक के विधान से दूसरे की सृष्टि होती है और दूसरे से तीसरा कानून बनता है और इस प्रकार गाडी चलती जाती है और इसका अन्त तभी होता है जब हम लौटकर फिर अनन्त 'स्व' मे आ जाते है। इसी प्रकार ससार के व्यक्तियो मे धर्म का विस्तार होता है, पर उसका अन्त तब तक नहीं हो सकता जब तक कि मनुष्य उन धर्मों के मूल तत्त्व एकमात्र सत्य को न समझ ले, पूर्ण चेतना और प्रकृति

के विधान को समझ लेने पर यह काम सरल हो जाता है। इस सर्व-व्यापक सब समन्वित मन और अनन्त कल्पना मे तभी धर्म, तत्त्वज्ञान, विज्ञान, विधान और कला आदि आकर मिल जाते हैं और फिर उसी से वे उद्भूत भी होते हैं। यह अनन्त पुनरावृत्ति चालू रहती है। जब हम उसकी तह मे पहुँच जाते है और उसको समझ लेते हैं तो सभी प्रश्नो के उत्तर मिल जाते हैं, सारे सन्देह दूर हो जाते है और अन्तिम समन्वय होने पर मन को शान्ति प्राप्त हो जाती है।

इस प्रकार का समन्वय प्राप्त हुए बिना भौतिक दृष्टि से सम्पन्न होकर भी मनुष्य अकिंचन ही बना रहेगा, क्योकि जब तक मन को शान्ति न प्राप्त हो धन-सम्पत्ति एकत्रित करके भी वह क्या करेगा। भूतकाल मे जितने भी धार्मिक युद्ध या साम्प्रदायिक दगे हुए है और अब भी ससार मे जो निरन्तर सघर्ष चल रहा है—हिन्दू-मुसलमानो मे, हिन्दू-हिन्दुओ मे, शिया-सुन्नियो मे, अरब-यहूदियो मे—यही क्यो, भाई-भाइयों तक मे यह सघर्ष और विरोध-भाव चलते रहने का कारण मानसिक अशान्ति और विचार-समन्वय की हीनता है। ऐसी दशा मे यदि ससार के सारे सघर्ष और कलह को दूर करना है तो सबसे पहले उसके कारण को दूर करना होगा। समझदार और विद्वान् लोग जब तक सर्व-धर्म-समन्वय की बात समझकर उसको अपने जीवन मे पालन न करेंगे तब तक यह अवाञ्छनीय ढग का सघर्ष चलता ही रहेगा। यदि ससार की यही अवस्था, यही गति-विधि रही, समाज का यही ढॉचा रहा, राष्ट्रों की यही तैयारियॉ रहीं तो उसका दु खद परिणाम भोगना पडेगा। ईर्ष्या, घृणा और कपट राज्यो को खा जायँगे और फिर युद्ध अनिवार्य हो जायगा, जिससे मानव-जाति का घोर रूप मे विनाश हो जायगा।

समन्वय के लिए यह अनिवार्य है कि या तो मनुष्य मनुष्य

को समझे और हृदय से दुर्भावना दूर करके दूरदर्शिता से काम ले अथवा आपस मे लड़कर, थककर फिर सुलह-समझौते के मार्ग की ओर लौटे और बौद्धिक, भौतिक, वैयक्तिक और सामूहिक कल्याण के लिए प्रयत्न करने के लिए फिर मानवता की ओर लौटे।

यदि रूस की पद्धति सफल हुई तो उसका अनुकरण और अनुसरण होगा ही, पर यदि वह असफल हो गई, जिसकी कि अधिक सम्भावना है क्योकि उसके पास आध्यात्मिक विषमारक प्रयोगो का अभाव है, तो वैसी दशा मे केवल ये उपाय रह जाते है

(१) एक विश्व-धर्म की स्थापना, जो सभी धर्मों के मस्तिष्क का भी काम करे और हृदय का भी, क्योकि इस प्रकार मानव-जाति मे एकता की स्थापना हो सकेगी। यह धर्म सभी धर्मो के अनुयायियो का आध्यात्मिक परिपोषण करेगा और मानवता को विभाजित करने वाले कारणो को दूर करके उनमे एक अखण्डता और भ्रातृ-भाव बढाकर वैसे विश्वास और श्रद्धा की सृष्टि करेगा जो हमारे घरेलू जीवन मे अब भी देखी जाती है।

(२) एक ऐसी युक्ति-सगत व्यक्तिगत सामाजिक सगठन की योजना, जो विज्ञान और खासकर मानव-स्वभाव अर्थात् मनो-विज्ञान के अनुकूल हो।

ससार के पवित्र ग्रन्थो, विशेषकर वैदिक धर्म-ग्रन्थो मे ऐसी धर्म की आधारभूत बातो का समावेश है। धर्म का नाम तभी सफल होगा जब वह सर्वत्र मनुष्य-मात्र की सेवा और सहायता कर सके—इस लोक मे उसे सुख दे सके और इसके पश्चात् भी।

आज सभी राष्ट्रो के शासक—चाहे वे राष्ट्र के चुने हुए प्रतिनिधि हो या खुद-मुख्तार तानाशाह,सम्राट् हो या महामत्री,प्रभावशाली पूँजीवादी हो या सैनिक गुटबाज—शक्तिशाली समझे जाते है और अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करते दिखाई देते

हैं और दुर्बल जातियो के नेता अपने देश की स्वतन्त्रता फिर प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे है, पर शायद कहीं भी इस बात पर विचार नहीं किया जा रहा है कि उस वर्द्धित शक्ति का उपयोग व्यक्ति,राष्ट्र और विश्व की शान्ति को सगठित करने मे किस प्रकार किया जाय। उनकी शक्ति तो युद्ध के लिए सगठन और तैयारी करने मे लग रही है। बात यह नहीं है कि ससार के ये शासक और नेता ससार की सुख शान्ति का सच्चा मार्ग जानते ही नहीं। वे जानते बहुत-कुछ हैं, पर अपनी सकीर्ण दृष्टि और तत्कालीन लाभ के आगे वे दूरदर्शिता और स्थायी सुख की ओर ध्यान नहीं देना चाहते। वे स्वय अन्धे है, फिर भला अन्धो को रास्ता कैसे दिखा सकते है। जब तक वे अपने अहकार को दूर करके अपने संकीर्ण 'राष्ट्रवाद' का चश्मा हटाकर मानवता की दिव्य दृष्टि न पा लेगे तब तक ससार का वर्तमान क्लेश दूर न होगा। मानवता का प्रसार सर्व-धर्म-समन्वय के सिद्धान्तो पर ही हो सकता है और उसी के द्वारा स्थायी शान्ति और समृद्धि मनुष्य मात्र को प्राप्त हो सकती है।

• ३ •

सामाजिक भूमिका

(आचार्य काका कालेलकर)

१

स्वर्गीय श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक जगह लिखा है कि हिन्दुस्तान का सवाल वास्तव मे राजनीतिक नहीं बल्कि सामाजिक है। आज जब कि हम एक स्वतन्त्र गणराज्य के निवासी है तब रवीन्द्रनाथ ठाकुर का कहना और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि हमारा राष्ट्रीय प्रश्न जितना राजनीतिक है उससे अधिक सामाजिक है। हमारी राजनीतिक परेशानियाँ भी हमारी सामाजिक कमजोरी मे से पैदा हुई है। अगर हमारा राष्ट्र सामाजिक दृष्टि से एक और अखण्ड समुदायात्मक होता, अगर हमारे हृदय एक होते, हमारे मन एक ही दिशा मे काम करते होते, हमारी राष्ट्रीय यात्रा एक ही आदर्श की ओर जाती होती, तो हमारी राजनीतिक आकाक्षाओ की सिद्धि मे इग्लैण्ड कभी किसी तरह की रुकावट न डाल सकता।

हिन्दुस्तान की सर्वतोमुखी प्रगति के बारे मे आस्था रखने वाले महाराष्ट्रीय नेताओ ने एक जमाने मे इस बात की बड़ी गर्म बहस चलाई थी कि पहले राजनीतिक सुधार किये जायँ या सामाजिक? सिर्फ चर्चा चलाकर ही वे न रुके, उनमे दो दल बन गए। दोनो दलो ने अपने-अपने ढग से अच्छा ही काम किया,

लेकिन अगर दोनो मे सहयोग हो जाता तो जनता गुमराह न होती और आपसी विरोध के कारण राष्ट्रीय शक्ति की जितनी बरबादी हुई, उतनी न होती।

गाधी-युग मे हमने यह जान लिया है कि राजनीतिक सवाल मूलत सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक ही होता है, इसलिए पहले 'राजनीति या समाज-नीति' का सवाल ही न उठाकर सारी जीवन-नीति को ही हाथ मे लेना चाहिए। राजनीतिक सवाल हल किये बिना सामाजिक सुधारो को बल नहीं प्राप्त होता, और सामाजिक सुधार करके राष्ट्रीय एकता सिद्ध किये बिना राजनीतिक एकता के लिए जरूरी जन-शक्ति ही पैदा नहीं हो सकती। जनता की सेवा सामाजिक क्षेत्र मे की गई हो तो वह राष्ट्रीय आन्दोलन के बारे मे तुरन्त मदद देने लगती है। "जनता मे सेवा बोइये और स्वराज्य की फसल काटिए।" इस तरह का उनका परस्पर-सम्बन्ध है। सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और शिक्षा-सम्बन्धी—सभी प्रश्नो को एक करके गाधीजी ने उनके हल को 'रचनात्मक-कार्यक्रम' का नाम दिया। यह रचना किस बात की है? वह है स्वराज्य की समर्थ राष्ट्रीयता की, सर्वतोमुखी सामर्थ्य की रचना।

धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक शिक्षा-सम्बन्धी आदि जीवन के, विराट् जीवन के, अनेक पहलू है, फिर भी जीवन एक तथा अविभाज्य अखण्ड है। इसलिए उन्नयन दण्ड (लिवर) कितना भी और कहीं से भी क्यो न लगाया जाय, आखिर उत्थान तो समग्र जीवन का ही करना है।

जीवन का यथार्थ आकलन होने के लिए उसके अलग-अलग पहलुओ पर हम जुदे-जुदे सोचते है। यह उचित भी है, लेकिन जीवन के जितने ही टुकड़े किये जायॅ तो हाथ मे जीवन न आकर मृत्यु ही आएगी। विचार के हिस्से किये जा सकते हैं, कार्य-राशि के भी विभाग किये जा सकते है, लेकिन अगर हम जीवन के ही

करने लगे तो वह आत्मघात ही होता। अगर हम स्वराज्य चाहते हों, राष्ट्र के शरीर में स्वतन्त्रता के प्राण को संचारित हुआ देखना चाहते हों तो समाज को सब तरह नीरोग, सुदृढ़ तथा संस्कार-सम्पन्न बनाने के लिए और राष्ट्र को उसके ध्येय का भान कराने के लिए हमें राष्ट्र-रचना का काम अखण्ड रूप से चलाना चाहिए। उसी का एक पहलू सामाजिक प्रश्न है। उस पहलू को अत्यधिक महत्त्व देना जैसे गलत होगा वैसे ही उसकी तरफ बिलकुल ध्यान न देना भी आत्मघात की तरह होगा।

पिछली पीढ़ी के महाराष्ट्रीय लोगों ने समाज-सुधार के बारे में जो विचार किया वह खासकर मध्यम श्रेणी के लोगों तक ही सीमित था और सो भी महाराष्ट्र के मध्यवित्त लोगों को मद्दे-नजर रखकर किया गया था। अब हमें व्यापक समाज का विचार करना चाहिए। आजकल हिन्दू और मुसलमान दो 'भिन्न-भिन्न राष्ट्र हैं' कहने का फैशन-सा चल पड़ा है। राजनीतिक दृष्टि से इससे बड़ा झूठ आज तक कोई न बोला गया होगा। जाति-भेद, धर्म-भेद, भाषा-भेद और वंश-भेद आदि कितने ही भेद होते हुए भी संस्कृति तथा राष्ट्रीयता की दृष्टि से हम सब एक ही हैं। अगर कोई कहे कि दुनिया के सारे मुसलमानों की संस्कृति एक है, तो वह गलत होगा। मार्मड्यूक पिक्थाल नाम का अंग्रेज मुसलमान है, उसने कुरान पर भाष्य लिखा है। लेकिन यह कभी नहीं कहा जा सकता कि उसकी और निजाम (हैदराबाद) की संस्कृति एक है। उसी तरह चीन के मुसलमानों और भारत के मुसलमानों का धर्म एक होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी संस्कृति एक है। लंका के बौद्ध और तिब्बत के बौद्ध दोनों बुद्ध धर्म तथा संघ की शरण जाते हैं तो भी संस्कृति की दृष्टि से वे एक-दूसरे से भिन्न हैं, इस बात को हर कोई स्वीकार करेगा।

हिन्दुस्तान के ईसाई और अमरीका के ईसाई दोनों का धर्म एक होते हुए भी दोनो की जीवन-दृष्टि, रहन-सहन तथा विचार-प्रणाली एक ही तरह की नहीं है। इसमे शक नहीं कि धर्म की एकता बडी जबरदस्त होती है। यह भी सही है कि एक समय मे वह जीवन व्यापी थी। लेकिन अब उसकी वह स्थिति नहीं रही है, और इसके बाद तो सारे धर्म भाड मे जाकर गिरने वाले है, बल्कि गिर गए है। यह कहना कठिन है कि आगे इनका क्या होगा, लेकिन इतना सही है कि संस्कृति की एकता जितनी दृढ होगी उतनी धर्म की न होगी।

मानव-जाति ने शुरू के जमाने मे कुटुम्बो तथा गोत्रो से प्रारम्भ किया, बाद मे अपने छोटे-छोटे दल बनाये, जातियाँ और जमाते पैदा कीं, लेकिन 'वसुधैव कुटुम्बकम्' (सारी दुनिया एक ही कुटुम्ब की तरह है) के आदेश को सिद्ध करने की हिम्मत कभी न की। हिन्दू, पारसी और यहूदी तीनो प्राचीन धर्म वंशनिष्ठ हैं। इनमे बाहर के लोगो का आत्मसात् करने का खुला मार्ग नहीं है। ये तीन धर्म अगर कहे कि धर्म और राष्ट्र एक ही है, तो वह सही न होने पर भी एक बार क्षम्य होगा, लेकिन बौद्ध, जैन, इस्लामी, ईसाई, आर्यसमाजी या ब्राह्म धर्म नये-नये अनुयायी प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले धर्म है। उनकी अपनी कोई एक ही संस्कृति नहीं है, वह तो सभी संस्कृतियो मे हिल-मिल सकते है। शक्कर, इमली आदि रस अलग वस्तुओ मे पड़ने पर उन्हे अपनी रुचि प्रदान करते है। यही हालत इन धर्मों की है। ईसाई धर्म के मानी है ईसा मसीह का उपदेश। ईसाइयो की तरह कुछ यहूदियो ने भी उसे अपने धर्म मे ले लिया, औरों ने उस पर यूनानी तथा रोमन संस्कृतियो की तहे चढ़ाई। हिन्दुस्तान के ईसाई जब ईसा मसीह के उपदेश और उसके जीवन-नेतृत्व को स्वीकार करते हैं तब उन्हे यहूदियो के तौरात (Old Testament)

या यूनानी दर्शन को स्वीकार करने की जरूरत नहीं है। यहाँ का धर्म ही उनका असली तौरात है, उसी मे वे येशू का वह उपदेश मिला ले जो उनके गले उतरा हो। वैसा करने से वे हिन्दुस्तानी सस्कृति मे भी रह सकते हैं और ईसाई बनने का सन्तोष भी प्राप्त कर सकते है। ऐसा तो नहीं है कि जिन्होंने हिन्दू धर्म का त्याग किया हो उन्हे सस्कृति का भी त्याग करना ही चाहिए। हिन्दू-सस्कृति मे हिन्दू धर्म के बन्धन नहीं है, लेकिन हिन्दू जीवन-दृष्टि तो वायुमण्डल की तरह अपना काम करती रहती है।

यहाँ की सस्कृति को पहले हम आर्य सस्कृति कहते थे। वह बडी हद तक झगडालू और विजिगीषु थी। लेकिन अन्त मे उसे अनुभव हुआ कि विजय के पीछे पडने से परस्पर नाश को ही स्वीकार करना पड़ता है। 'जय वैर प्रसवति दु ख शेते पराजितो' अर्थात् विजय से वैर बढता है, पराजित यानी हारा हुआ व्यक्ति सुख की नोद नही सो सकता। वह बदला लेने की तैयारी करता है और युद्ध के पेट से महायुद्ध तथा अति-युद्ध जैसी सन्ताने जन्म लेती है, और इस वश-परपरा की अन्तिम सन्तान है विनाश तथा सर्वनाश।

वैर या दुश्मनी की कल्पना को जन्म देने पर वह कल्पान्त करके ही विश्राम करती है। इसलिए युद्ध के अन्त मे धर्मराज को कहना पडा—'जयोऽपि अजयकरो भगवन् प्रतिभाति मे', अर्थात् हे भगवन्! मुझे ऐसा लगता है कि हमारी यह विजय बहुत भारी पराजय या हार ही है। रोमन लोगो से लडने वाले सेना-पति पिह्रस को भी ऐसा ही कहना पड़ा था कि 'इस तरह की और एक विजय प्राप्त करूँ तो मेरा सर्वनाश ही होगा।' (एक लड़ाई मे उसकी आधी सेना खेत आई थी।)

भारतीयो ने देखा कि युद्ध-परायण क्षात्रधर्म पापी है, क्योंकि वह आत्मघाती है, इसलिए उन्होने यह तय किया कि साम,

दाम भेद आदि सभी उपाय कर चुकने के बाद ही दण्ड का आखिरी उपाय आजमाकर देखा जाय।

इस तरह भारतीय युद्ध के बाद बुद्ध और महावीर के जमाने मे आर्य-संस्कृति ने हिन्दू-संस्कृति का रूप धारण किया। हिन्दू-संस्कृति विजिगीषु नही, बल्कि जिजीविषु है। हम जियें, सब जियें, सब सुखी हो, सभी निरामय हों, सबको भद्र बाते मिलें, किसी को भी दु:ख न हो—ऐसा संकल्प करके आर्य-संस्कृति ने हिंसा-विमुख हिन्दू-संस्कृति का रूप धारण किया (हिंसया दूयते चित्त यस्यासौ हिन्दुरीरित' अर्थात् हिंसा को देखकर जिसका चित्त दुखता है वह हिन्दू है।)

अपने देश और समाज मे आकर स्थान पाये हुए पारसी, यहूदी, इस्लामी, ईसाई, लेनिनी आदि सभी धर्मों का स्वागत इस संस्कृति ने किया है। हिन्दुस्तान मे अब एक ही धर्म नहीं रहता है, यहाँ तो सब धर्मो का एक विश्व कुटुम्ब बन गया है। अब हिन्दू-संस्कृति का संशोधित तथा परिवर्द्धित एक नया संस्करण तैयार हुआ है। उसे हम 'हिन्दुस्तानी संस्कृति' कहे। यही संस्कृति अब हिन्दुस्तान भर मे प्रधान रूप से रहने वाली है। आज तक एक-दूसरे की तरफ आँखे तरेरकर देखने वाले धर्म इसके कृपा-छत्र के नीचे कुटुम्ब की भावना से पास-पास आने वाले है और मेल-मिलाप से रहकर सारी दुनिया को 'महत् समन्वय' का रास्ता दिखाने वाले है।

२

अब सवाल यह है कि अगर हिन्दू-संस्कृति ही विरोध-शामक अहिंसा-परायण थी, तो फिर उसका नाम बदलकर उसे हिन्दुस्तानी संस्कृति कहने का क्या कारण है?

हिन्दू-संस्कृति ने विरोध टाला तो सही, लेकिन वह विरोध का

समूल नाश न कर सकी। और उसकी इससे भी बड़ी त्रुटि यह है कि उसने भोलेपन से अपने अन्दर उच्च-नीचता की भावना को जारी रखा है। चार भाई जब एक साथ रहते है और बड़े भाई की सलाह से सब काम ठीक तरह चलता है, तब बड़े भाई को ऐसा लगता है कि वह उस घर का मालिक है, उसकी आज्ञा सब भाइयो को माननी चाहिए, जहाँ वह कहे वहाँ वे बैठे, जितना वह दे उतना ही वे खाएँ और जैसा वह तय करे वैसी ही शिक्षा उनके लडको को दी जाय।

जब तक बडा भाई उदार, नि स्वार्थी और परिश्रमी होगा, परिवार के हित की खातिर अपने को भूलकर मेहनत करता होगा, तब तक उसकी व्यवस्था खास अच्छी न होने पर भी उसके छोटे भाई तथा परिवार के दूसरे लोग उसे चला लेगे। बडा भाई उन्हे एक वचन से पुकारे तो भी वे उसमे गर्व का अनुभव करेंगे। लेकिन बडे भाई को यह कभी न भूलना चाहिए कि यह सब खुशी का सौदा है, मूल मे सब भाई समान है, सबका अधिकार समान है। सबके मत से ही घर का काम चलना चाहिए। कोई किसी की आज्ञा मे रहने के लिए बँधा हुआ नहीं है। यह भान सबमे होना चाहिए कि 'अगर हम परिवार को छोडकर चले गए तो विशाल समाज मे हमारा नाश ही होने वाला है, इसलिए हम सबको एक दिल से एकता के साथ रहना चाहिए।'

हिन्दू-सस्कृति ने यह एक असामाजिक बात की कि वह समाज मे उच्च-नीचता का भाव लाई। भोलेपन से जब तक यह बात चलती रही तभी तक चली। भोजन के समय पगत मे ब्राह्मण उच्चासन पर बैठे यह बात अगर सबको मंजूर हो, तभी वह चल सकेगी, लेकिन दूसरी जातियाँ इस तरह की जुल्म-जबर्दस्ती के सामने क्यो झुके? इसलिए पगत में बैठना ही छोड़ दिया जाय या फिर जो जहाँ चाहे वहाँ उसे बैठने दिया जाय। उच्चता-

नीचता की भावना सबकी भोली-भाली सम्मति से टिक सकती है या फिर जबर्दस्ती से उसे लादा जा सकता है, जहाँ ज्ञान आया, अहिंसा आई और न्याय आया वहाँ समता की प्रस्थापना होनी चाहिए।

कहते है कि फला समाज को अस्पृश्य ही रखा जायगा।

क्यो भाई, उसने किसका क्या नुकसान किया है? और अगर वह अस्पृश्य के तौर पर रहने के लिए तैयार न हो तो? आपके पास सख्या और सत्ता है इसलिए आप अपना मत उस पर जबर्दस्ती लादेंगे न? वह भी कहेगा कि 'देख लेंगे, जुल्म-ज्यादती का प्रतिकार करने मे ही पौरुष है। प्रतिकार करते-करते मर जायँगे, मगर जुल्म को बरदाश्त न करेंगे।' ऐसा कहकर अगर अछूत लोग खम ठोककर खडे हो जायँ तो समाज-व्यवस्था की क्या प्रतिष्ठा रहेगी? घर मे रहते समय छोटा कहकर जिस-के कान हम पकडते है वह अगर घर से बाहर जाने लगे तो उसी के पैर पकडकर अगर हम उसे घर मे रख सके तभी परिवार की शान रहेगी।

हिन्दू-सस्कृति ने उच्चता-नीचता के भाव को बढाकर उसे अस्पृश्यता तक पहुँचाया। अस्पृश्यता, उच्च-नीच भाव और बहिष्कार इन सामाजिक शास्त्रो का प्रयोग आत्मघातीपन से करके हिन्दू-संस्कृति ने अपनी कल्याण-बुद्धि का दिवाला निकाला। अब उस हालत को सुधारकर हिन्दुस्तान की संस्कृति मे पले-बढ़े सभी लोगों की एकता का सवाल जल्दी से हाथ मे लिया जाना चाहिए। सारा समाज एक जीव, एक प्राण, एक हृदय, एक मन और एक शरीर हो, इसके लिए अब जी-जान से कोशिश करनी चाहिए। घर मे आग लगने पर जिस लगन और तेजी के साथ हम दमकल चलाते है उसी वेग तथा निर्धार की प्रस्थापना हमे करनी है। नोआखाली और बिहार मे जो दुष्ट सपने देखे गए उसके बाद अगर

हम तुरन्त न जगते तो विनाश बहुत दूर नहीं था। सर्व-समन्वय ही इस क्षण और इस युग का उद्घोष है—समतामूलक सर्व-स्वीकारी समन्वय।

३

'राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से हम एक है', कहने वाली जनता अगर सामाजिक बातों मे समाज के टुकड़े करने लगे तो उससे काम न चलेगा। भिन्न भिन्न जतियाँ और भिन्न-भिन्न प्रान्त अगर इतने अलग हो गए कि जीवन-व्यवहार मे कभी किसी का किसी के साथ सम्बन्ध ही न हो सके, तो यह कैसे माना जाय कि उन सब जातियो से मिलकर एक समाज बनता है? जिन लोगो की यह हालत हो कि वे एक साथ बैठकर खाना खाते है उनसे अगर कहे कि 'तुम एक समाज नहीं हो' तो हम उसे क्या जवाब देगे? क्या हमारी एकता सिर्फ इतनी ही है कि 'हमारे बीमारों और पागलो के अस्पताल एक है, हमे गुलामी मे रखने वाले मालिक एक है, इन सबका अपमान एक है, एक ही मौत हम सबके नसीब मे बदी है।' मृत्यु के बाद के हमारे श्मशान भी अलग-अलग है, मन्दिर अलग है, भोजन की पगते अलग, धोती और पगडी पहनने के ढग अलग, और नमस्कार करने की पद्धतियाँ भी अलग है। इस तरह अलगपन के पीछे पागल हो जाने के बाद 'हमारी सस्कृति और राष्ट्रीयता ही एक है' कहते समय उस कहने मे जोर कहाँ से आए? हमारे ऋषियो ने यह आविष्कार किया कि विविधता मे एकता अनुभूत (पिरोई हुई) होना इस विश्व का रहस्य है और उन्होने यह आदेश दिया कि विभक्त मे से अविभक्त को ही खोज निकालो तथा उससे चिपटे रहो। लेकिन हमने तो जहाँ तक हो सका, एकता को गौण बनाया और भेदो को बढ़ाते गए। सारा राष्ट्र, सारी सस्कृति और सनातन काल से चला आया

हमारा धर्म छिन्न-भिन्न होने आया है, फिर भी भेदों को बढाने का अपना शौक हम नही छोड रहे है। यह तो मानो हमारा धर्म-व्रत ही हो गया है कि थोडा भी भेद का तत्त्व दिखाई दे, तो तुरन्त उस पर जोर देकर एकता का गला घोटा जाय। धर्म भेद तथा जाति-भेद मानो काफी नहीं है, इसलिए अब हम प्रान्त भेद और भाषा-भेद को आगे बढा रहे हैं।

प्राथमिक या आदिम स्थिति के समाज का यह स्वभाव ही होता है कि जिसकी जानकारी न हो, जिसका परिचय न हो, उसके बारे मे अविश्वास, तिरस्कार और अनास्था रखी जाय। यह तो एक राजनीतिक सिद्धान्त भी बन गया है कि 'हमारा पडौसी हमारा दुश्मन है, उसकी उस तरफ का उसका पड़ौसी हमारे इस पडौसी का दुश्मन होने के कारण हमारा दोस्त है।'

जब काग्रेस ने राष्ट्रीय एकता साधकर स्वतन्त्रता प्राप्त करने की कोशिश शुरू की तब भेद-निपुण अग्रेजो के भडकाने से हो या अपने सनातन स्वभाव-दोष के कारण हो, हमने एकता और स्वतन्त्रता से डरकर अपनी जाति के संकुचित हितो की रक्षा करा लेने के लिए दौड-धूप शुरू की। किसी को मत-स्वातन्त्र्य चाहिए तो किसी को पान-स्वातन्त्र्य। धर्म, रीति-रिवाज, सीमाओ, पहनावा, भाषा, साहित्य, लिपि—सब कुछ पहले सुरक्षित होने दीजिए। उसी की फिक्र उन पर सवार है। हमारे देश मे ऐसे लोग कुछ कम नहीं हैं जो ऐसा पक्का इरादा कर बैठे है कि ऊपर बताई हुई सभी बातो की सुरक्षा के बारे मे विश्वास होने तक वे हमारे स्वराज्य के आन्दोलन का विरोध करते रहेगे।

अग्रेजी साहित्य की बारीकियो से परिचित हमारे शिक्षितो को बगला या तेलुगु साहित्य की तनिक भी जानकारी नहीं होती और इस बात से न किसी को आश्चर्य होता है, न बुरा ही लगता है। लगभग सभी हिन्दुओ को ऐसा लगता होगा कि उनके प्रान्तो तथा

जातियों में प्रचलित रीति-रिवाज ही हिन्दू-धर्म का सच्चा लक्षण है। तो फिर कई मार्मिक टीकाकारों ने हमारा जो यह वर्णन किया है कि 'बडे देश के छोटे लोग ! उदार धर्म के अनुदार प्रतिनिधि ! विशाल संस्कृति के संकुचित अनुयायी !' उसे हम कैसे झूठा कह सकते हैं?

इसका उपाय एक ही है। हमें अलग-अलग प्रान्तों और जातियों में काफी प्रवास करना चाहिए। लोगों में हिल-मिल जाना चाहिए। आहार में सिर्फ शाकाहार और मांसाहार के भेद का पालन करके किसी के भी घर, किसी के भी साथ और किसी के भी हाथ का पका हुआ खाना खाने में हर्ज न होना चाहिए। अगर मैं शुद्ध शाकाहारी हूँ तो भी मेरे पास बैठकर अगर कोई गोश्त खाए तो वह मुझसे बरदाश्त किया जाना चाहिए, इतना ही नहीं बल्कि उसके साथ बड़ी प्रसन्नता के साथ बातचीत करने की कला भी मुझमें होना चाहिए। इतनी उदारता तब तक नहीं हो सकती जब तक कि हम अपने दिल से उच्चता-नीचता की भावना को दूर नहीं कर सकते। कोई भी किसी जाति या धर्म के व्यक्ति से शादी करे तो मुझे ऐसा नहीं लगना चाहिए कि उसमें बड़ा घात हुआ है। रहन-सहन के छोटे-बडे भेदों को हजम करने की शक्ति हममें आ ही जानी चाहिए। पति, पत्नी या घर के दूसरे लोगों में से किसी पर भी कोई जुल्म जबर्दस्ती न करे। हर एक की स्वतन्त्रता की रक्षा सबको आदर के साथ करनी चाहिए। बाह्य नियन्त्रण, जहाँ तक हो सके, कम करने से ही समाज का नैतिक तेज बढ़ता है। आन्तरिक प्रेरणा से ही जिन आदर्शों का पालन किया जाता है वे ही समाज को ऊँची सतह तक ले जाते हैं, इस बात को पहचानकर सदाचार के बन्धन का पालन करने का प्रयत्न हर एक को करना चाहिए।

हिन्दुस्तान का असली सवाल व्यापक अर्थ में सामाजिक है।

हिन्दुस्तान की राजनीतिक कमजोरी उसके सामाजिक दोषो के कारण ही पैदा हो गई है। इतनी सी एक बात अगर हमारे गले उतरे तो हम अपने धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक सवाल बात-की-बात मे हल कर सकेगे। लेकिन सामाजिक प्रश्न के मानी महाराष्ट्र के मध्यवित्त श्रेणी के ही प्रश्न नहीं, बल्कि हिन्दुस्तान मे रहने वाले सब प्रान्तो, सब धर्मो, सब जातियो, सब परिस्थितियो के छोटे बडे, नये-पुराने, गरीब-अमीर, शिक्षित-अशिक्षित, पिछडे हुए और आगे बढे हुए सभी आबाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुषो के जीवनो के सब प्रश्न है—इतना व्यापक अर्थ लिया जाना चाहिए।

• ४ •

जीवन और शिक्षण

(आचार्य विनोबा भावे)

आज की विचित्र शिक्षण-पद्धति के कारण जीवन के दो टुकड़े हो जाते है। आयु के पहले पन्द्रह-बीस बरस मे आदमी जीने के झंझट में न पडकर सिर्फ शिक्षा प्राप्त करे और बाद मे शिक्षण को बस्ते मे लपेट रखकर मरने तक जिये।

यह रीति प्रकृति की योजना के विरुद्ध है। हाथ-भर लम्बाई का बालक साढे तीन हाथ का कैसे हो जाता है यह उसके अथवा औरो के ध्यान में भी नहीं आता। शरीर की वृद्धि रोज होती रहती है। यह वृद्धि सावकाश, क्रम-क्रम से, थोडी-थोड़ी होती है। अत उसके होने का भान तक हमे नहीं होता। यह नहीं होता कि आज रात को सोए जब दो फुट ऊँचाई थी और सवेरे उठकर देखा तो ढाई फुट हो गई। आज की शिक्षण-पद्धति का तो यह ढग है कि अमुक वर्ष के बिलकुल आखिरी दिन तक मनुष्य जीवन के विषय में पूर्ण रूप से गैर-जिम्मेदार रहे तो भी कोई हर्ज नहीं। यही नहीं, उसे गैर-जिम्मेदार रहना चाहिए और आगामी वर्ष का पहला दिन निकले कि सारी जिम्मेदारी उठा लेने को तैयार हो जाना चाहिए। सम्पूर्ण गैर-जिम्मेदारी से सम्पूर्ण जिम्मेदारी मे कूदना तो एक हनुमान-कूद हुई। ऐसी हनुमान-कूद की कोशिश मे हाथ-पैर टूट जायँ तो क्या अचरज!

भगवान् ने अर्जुन से कुरुक्षेत्र मे भगवद्गीता कही। पहले भगवद्गीता की 'क्लास' लेकर फिर अर्जुन को कुरुक्षेत्र मे नहीं ढकेला। तभी उसे वह गीता पची। हम जिसे जीवन की तैयारी का ज्ञान कहते है, उसे जीवन से बिलकुल अलिप्त रखना चाहते हैं, इसलिए उक्त ज्ञान से मौत की ही तैयारी होती है।

बीस बरस का उत्साही युवक अध्ययन में मग्न है। तरह-तरह के ऊँचे विचारो के महल बना रहा है। 'मै शिवाजी महाराज की तरह मातृभूमि की सेवा करूँगा। मैं वाल्मीकि-सा कवि बनूँगा। मै न्यूटन की तरह खोज करूँगा।' एक, दो, चार, जाने क्या-क्या कल्पना करता है! ऐसी कल्पना करने का सौभाग्य भी थोडो को ही मिलता है। पर जिनको मिलता है उनकी ही बात लेते है। इन कल्पनाओं का आगे क्या नतीजा निकलता है? जब नौन-तेल-लकडी के फेर मे पडा, जब पेट का प्रश्न सामने आया तब बेचारा दीन बन जाता है। जीवन की जिम्मेदारी क्या चीज है आज तक इसकी बिलकुल ही कल्पना नहीं थी और अब तो पहाड़ सामने खडा हो गया। फिर क्या करता है? फिर पेट के लिए वन-वन फिरने वाले शिवाजी, करुण-गीत गाने वाले वाल्मीकि, और कभी नौकरी की तो कभी औरत की, कभी लडकी के वर की और अन्त मे श्मशान की शोध करने वाले न्यूटन—इस प्रकार की भूमिकाएँ लेकर अपनी कल्पनाओं का समाधान करता है यह हनुमान-कूद का फल है।

मैट्रिक के एक विद्यार्थी से मैंने पूछा—"क्यो जी, तुम आगे क्या करोगे?"

"आगे क्या? आगे कॉलेज मे जाऊँगा।"

"ठीक है। कॉलेज मे तो जाओगे, लेकिन उसके बाद? यह सवाल तो बना ही रहता है।"

"सवाल तो बना रहता है, पर उसका अभी से विचार क्यो

किया जाय ? आगे देखा जायगा।"

फिर तीन साल बाद उसी विद्यार्थी से मैंने वही सवाल पूछा।

"अभी तक कोई विचार नहीं हुआ।"

"विचार हुआ नहीं, यानी ? लेकिन विचार किया था क्या ?"

"नहीं साहब, विचार किया ही नहीं। क्या विचार करे ? कुछ सूझता ही नहीं। पर अभी डेढ बरस बाकी है। आगे देखा जायगा।"

'आगे देखा जायगा,' ये वही शब्द हैं जो तीन वर्ष पहले कहे गए थे। पर पहले की आवाज मे बेफिक्री थी, आज की आवाज मे थोड़ी चिन्ता की झलक थी।

फिर डेढ़ वर्ष के बाद उसी प्रश्नकर्ता ने उसी विद्यार्थी से अथवा कहो अब गृहस्थ स वही प्रश्न पूछा। इस बार चेहरा चिन्ताक्रान्त था। आवाज की बेफिक्री बिलकुल गायब थी। 'तत किम् ? तत किम् ? तत किम् ?' यह शकराचार्य का पूछा हुआ सनातन सवाल अब दिमाग मे चक्कर लगाने लगा था। पर पास जवाब था नहीं।

आज की मौत कल पर ढकेलते-ढकेलते एक दिन ऐसा आ जाता है कि उस दिन मरना ही पड़ता है। यह प्रसग उन पर नहीं आता जो 'मरण के पहले ही' मर लेते है, जो अपना मरण आँखो से देखते है। जो मरण का अगाऊ अनुभव कर लेते है उनका मरण टलता है और जो मरण के अगाऊ अनुभव से जी चुराते है, खिंचते है, उनकी छाती पर मरण आ पड़ता है। सामने खम्भा है यह बात अन्धे की छाती मे उस खम्भे का प्रत्यक्ष धक्का लगने के बाद मालूम होती है। आँख वाले को यह खम्भा पहले ही दिखाई देता है। अत उसका धक्का उसकी छाती को नहीं लगता।

जिन्दगी की जिम्मेदारी कोई निरी मौत नहीं है। और मौत ही कौन ऐसी बड़ी मौत है ? अनुभव के अभाव से यह सारा 'हौआ'

है। जीवन और मरण दोनों आनन्द की वस्तुएँ होनी चाहिए। कारण, अपने परम प्रिय पिता ने—ईश्वर ने—वे हमे दिये है। ईश्वर ने जीवन दु खमय नहीं रचा। पर हमें जीवन मे जीना आना चाहिए। कौन पिता है जो अपने बच्चो के लिए परेशानी की जिन्दगी चाहेगा ? तिस पर ईश्वर के प्रेम और करुणा का कोई पार है ? वह अपने लाडले बच्चे के लिए सुखमय जीवन का निर्माण करेगा कि परेशानी और झंझटो से भरा जीवन रचेगा ? कल्पना की क्या आवश्यकता है, प्रत्यक्ष ही देखिए न हमारे लिए जो चीज जितनी जरूरी है उसके उतनी सुलभता से मिलने का इन्तजाम ईश्वर की ओर से है। पानी से हवा ज्यादा जरूरी है, तो ईश्वर ने पानी से हवा को अधिक सुलभ किया। जहाँ नाक है वहाँ हवा मौजूद है। पानी से अन्न की जरूरत कम होने की वजह से पानी प्राप्त करने की बनिस्वत अन्न प्राप्त करने मे अधिक परिश्रम करना पड़ता है। 'आत्मा सबसे अधिक महत्त्व की वस्तु होने के कारण वह हर एक को हमेशा के लिए दे डाली गई है। ईश्वर की ऐसी प्रेमपूर्ण योजना है। इसका खयाल न करके हम निकम्मे जड़ जवाहिरात जमा करने मे जितने जड़ बन जायँ तो तकलीफ हमे होगी ही। पर यह हमारी जडता का दोष है, ईश्वर का नहीं।

जिन्दगी की जिम्मेदारी कोई डरावनी चीज नहीं है, वह आनन्द से ओत-प्रोत है, बशर्ते कि ईश्वर की रची हुई जीवन की सरल योजना को ध्यान में रखते हुए अयुक्त वासनाओं को दबाकर रखा जाय। पर जैसे वह आनन्द से भरी हुई वस्तु है वैसे ही शिक्षा से भी भरपूर है। यह पक्की बात समझनी चाहिए कि जो जिन्दगी की जिम्मेदारी से वंचित हुआ वह सारे शिक्षण का फल गँवा बैठा। बहुतों की धारणा है कि बचपन से ही जिन्दगी की जिम्मेदारी का खयाल अगर बच्चों मे पैदा हो जाय तो जीवन

कुम्हला जायगा। पर जिन्दगी की जिम्मेदारी का भान होने से अगर जीवन कुम्हलाता हो तो फिर वह जीवन-वस्तु ही रहने लायक नहीं है। पर आज यह धारणा बहुतेरे शिक्षण-शास्त्रियों की भी है, और इसका मुख्य कारण है जीवन के विषय में दुष्ट कल्पना, जीवन मानी कलह, यह मान लेना। ईसप-नीति से अरसिक माने हुए, परन्तु वास्तविक मर्म को समझने वालों ने मुर्गे से सीख लेकर ज्वार के दानों की अपेक्षा मोतियों को मान देना छोड़ दिया तो जीवन के अन्दर का कलह जाता रहेगा और जीवन में सहकार दाखिल हो जायगा। 'बन्दर के हाथ में मोतियों की माला' (मरकट भूषण-अंग) यह कहावत जिन्होंने गढ़ी है उन्होंने मनुष्य का मनुष्यत्व सिद्ध न करके मनुष्य के पूर्वजों के सम्बन्ध में डार्विन का सिद्धान्त ही सिद्ध किया है। 'हनुमान के हाथ में मोतियों की माला' वाली कहावत जिन्होंने रची वे अपने मनुष्यत्व के प्रति वफादार रहे।

जीवन अगर भयानक वस्तु हो, कलह हो, तो बच्चों को उसमें दाखिल मत करो और खुद भी मत जियो। पर वह अगर जीने लायक वस्तु हो तो बच्चों को उसमें जरूर दाखिल करो। बिना उसके उन्हें शिक्षण नहीं मिलने का। भगवद्गीता जैसे कुरुक्षेत्र में कही गई वैसी शिक्षा जीवन-क्षेत्र में देनी चाहिए—दी जा सकती है। 'दी जा सकती है,' यह भाषा भी ठीक नहीं है। वह वहीं मिल सकती है।

अर्जुन के सामने प्रत्यक्ष कर्तव्य करते हुए सवाल पैदा हुआ। उसका उत्तर देने के लिए भगवद्गीता निर्मित हुई। इसी का नाम शिक्षा है। बच्चों को खेत में काम करने दो। वहाँ कोई सवाल पैदा हो तो उसका उत्तर देने के लिए सृष्टि-शास्त्र अथवा पदार्थ-विज्ञान या दूसरी जिस चीज की जरूरत हो उसका ज्ञान दो। यह सच्चा शिक्षण होगा। बच्चों को रसोई बनाने दो। उनको जहाँ जरूरत

हो रसायन-शास्त्र सिखाओ। पर असली बात यह है कि उनको 'जीवन जीने दो'। व्यवहार में काम करने वाले आदमी को भी शिक्षण मिलता ही रहता है, वैसे ही छोटे बच्चों को भी मिले। भेद इतना ही होगा कि बच्चों के आसपास जरूरत के अनुसार मार्ग-दर्शन कराने वाले मनुष्य मौजूद हों। ये आदमी भी 'सिखाने वाले' बनकर 'नियुक्त' नहीं होंगे। वे भी 'जीवन जीने वाले' हों जैसे व्यवहार में आदमी जीवन जीते हैं। अन्तर इतना ही है कि इन 'शिक्षक' कहलाने वालों का जीवन विचारमय होगा, उसमें के विचार मौके पर बच्चे को समझाकर बताने की योग्यता उनमें होगी। पर 'शिक्षक' नाम के किसी स्वतन्त्र धन्धे की जरूरत नहीं है, न 'विद्यार्थी' नाम के मनुष्य कोटि के बाहर के किसी प्राणी की। और 'क्या करते हो' पूछने पर 'पढता हूँ' या 'पढाता हूँ' ऐसे जवाब की जरूरत नहीं है। 'खेती करता हूँ' या 'बुनता हूँ' ऐसा शुद्ध पेशेवर कहिए, व्यावहारिक कहिए। पर जीवन के भीतर से उत्तर आना चाहिए। इसके लिए उदाहरण विद्यार्थी राम, लक्ष्मण और गुरु विश्वामित्र को लेना चाहिए। विश्वामित्र यज्ञ करते थे। उसकी रक्षा के लिए उन्होंने दशरथ से लड़कों की याचना की। उसी काम के लिए दशरथ ने लडकों को भेजा। लडकों में भी यह जिम्मेदारी की भावना थी कि हम यज्ञ रक्षा के 'काम' के लिए जाते है। उसमें उन्हें अपूर्व शिक्षा मिली। पर यह बताना हो कि राम-लक्ष्मण ने क्या-क्या किया तो कहना होगा कि 'यज्ञ-रक्षा की,' 'शिक्षण प्राप्त किया' नहीं कहा जायगा। पर शिक्षण उन्हे मिला, जो मिलना ही था।

शिक्षण कर्तव्य-कर्म का आनुषंगिक फल है। जो कोई कर्तव्य करता है उसे जाने-अनजाने वह मिलता ही है। लडकों को भी वह उसी तरह मिलना चाहिए। औरों को वह ठोकरें खा-खाकर मिलता है। छोटे लडकों में आज उतनी शक्ति नहीं आई है, इसलिए उनके

आसपास ऐसा वातावरण बनाना चाहिए कि वे बहुत ठोकरें न खाने पाएँ और धीरे-धीरे वे स्वावलम्बी बनें ऐसी उपेक्षा और योजना होनी चाहिए। शिक्षण फल है और 'मा फलेषु कदाचन' यह मर्यादा इस फल के लिए भी लागू है। खास शिक्षण के लिए कोई कर्म करना यह भी सकाम हुआ—और उसमें भी 'इदमद्य मया लब्धम्'—आज मैंने यह पाया है— इदं प्राप्स्ये' कल वह पाऊँगा—इत्यादि वासनाएँ आनी ही हैं। इसलिए इस 'शिक्षण-मोह' से छूटना चाहिए। इस मोह से जो छूटा उसे सर्वोत्तम शिक्षण मिला समझना चाहिए। माँ बीमार है, उसकी सेवा करने में मुझे खूब शिक्षण मिलेगा। पर इस शिक्षा के लोभ से मुझे माता की सेवा नहीं करनी है। वह तो मेरा पवित्र कर्तव्य है, इस भावना से मुझे माता की सेवा करनी चाहिए। अथवा माता बीमार है और उसकी सेवा करने से मेरी दूसरी चीज—जिसे मैं 'शिक्षण' समझता हूँ—वह जाती है तो इस शिक्षण के नष्ट होने के डर से मुझे माता की सेवा नहीं टालनी चाहिए।

प्राथमिक महत्त्व के जीवनोपयोगी परिश्रम को शिक्षण में स्थान मिलना चाहिए। कुछ शिक्षण-शास्त्रियों का इस पर यह कहना है कि ये परिश्रम शिक्षण की दृष्टि से ही दाखिल किये जायँ, पेट भरने की दृष्टि से नहीं। आज 'पेट भरने' का जो विकृत अर्थ प्रचलित है उससे घबराकर यह कहा जाता है और उस हद तक वह ठीक है। पर मनुष्य को 'पेट' देने में ईश्वर का हेतु है। ईमानदारी से 'पेट भरना' अगर मनुष्य साध ले तो समाज के बहुतेरे दु:ख और पातक नष्ट ही हो जायँ। इसी से मनु ने 'योऽर्थशुचिः सहि शुचिः'—जो आर्थिक दृष्टि से पवित्र है वही पवित्र है—यह यथार्थ उद्गार प्रकट किये हैं। 'सर्वेषामविरोधेन' कैसे जियें, इस शिक्षण में सारा शिक्षण समा जाता है। अविरोध-वृत्ति से शरीर-यात्रा करना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है। यह कर्तव्य करने से ही

उसकी आध्यात्मिक उन्नति होगी। इसीसे शरीर-यात्रा के लिए उपयोगी परिश्रम करने को ही शास्त्रकारो ने 'यज्ञ' नाम दिया है। 'उदरभरण नोहे, जाणिजे यज्ञकर्म्म'—'यह उदर-भरण नहीं है, इसे यज्ञकर्म जाने', वामन पडित का यह वचन प्रसिद्ध है। अत मैं शरीर-यात्रा के लिए परिश्रम करता हूँ, यह भावना उचित है। शरीर-यात्रा से मतलब अपने साढे तीन हाथ के शरीर की यात्रा न समझकर समाज-शरीर की यात्रा, यह उदार अर्थ मन मे बिठाना चाहिए। मेरी शरीर-यात्रा का अर्थ है समाज की सेवा और इसीलिए ईश्वर की पूजा, इतना समीकरण दृढ होना चाहिए। इस ईश्वर-सेवा मे देह खपाना मेरा कर्तव्य है और वह मुझे करना चाहिए, यह भावना हरेक मे होनी चाहिए। इसलिए वह छोटे बच्चो मे भी होनी चाहिए। इसके लिए उनकी शक्ति-भर उन्हे जीवन में भाग लेने का मौका देना चाहिए और जीवन को मुख्य केन्द्र बनाकर उसके आसपास आवश्यकतानुसार सारे शिक्षण की रचना करनी चाहिए।

इससे जीवन के दो खण्ड न होगे। जीवन की जिम्मेदारी अचानक आ पडने से उत्पन्न होने वाली अड़चन पैदा न होगी। अनजाने शिक्षा मिलती रहेगी, पर 'शिक्षण का मोह' नहीं चिपकेगा और निष्काम कर्म की ओर प्रवृत्ति होगी।

• ५ •

समष्टि और व्यक्ति

(आचार्य नरेन्द्रदेव)

व्यक्ति और समष्टि का विवाद बहुत पुराना है। दार्शनिकों मे भी दोनों मतवादो के पक्षपाती पाए जाते हैं। प्लेटो ने अपनी 'रिपब्लिक' मे समष्टिवाद का समर्थन किया है। हेगेल ने अपने दार्शनिक विचारो मे इसी वाद को आश्रय दिया है। हेगेल के अनुसार सर्व समष्टि के प्रतिरूप इस बाह्य जगत् में संस्थाओ का आकार धारण करते है, भाषा, राज, कला, धर्म इसी प्रकार की संस्थाएँ है। इन सस्थाओ की अन्तरात्मा को आत्मसात् करने से ही व्यक्तिगत विकास होता है। सस्थाओ के विरुद्ध व्यक्तियो के इसमे कोई आध्यात्मिक अधिकार नहीं है। यह ठीक है कि इतिहास बताता है कि सस्थाओ मे परिवर्तन होता है, किन्तु यह परिवर्तन विश्वात्मा का काम है। विश्वात्मा अपने महापुरुषो का वरण करता है, यही उसके उपकरण है। इनसे अन्यत्र व्यक्तियों का कोई हाथ नहीं होता। १९वीं शती के अन्तिम भाग मे हेगेलवाद का सम्मिश्रण जीव-शास्त्र के विकास-सिद्धान्त से हो गया। 'विकास' (Evolution) वह शक्ति है जो अपने लक्ष्य मे परिणत होता है। इसके विरुद्ध व्यक्तियो के भाव और उनकी इच्छाएँ अशक्त है अथवा इन्हीं के द्वारा 'विकास' अपना कार्य सम्पन्न करता है। हेगेल के कुछ अनुयायियों ने सर्व समष्टि और व्यक्ति

का सामञ्जस्य करने की चेष्टा की। उन्होंने समाज को समुदाय-मात्र न मानकर एक अवयवी माना। इसमे सन्देह नहीं कि व्यक्तिगत योग्यता के प्रयोग के लिए सामाजिक सगठन का होना आवश्यक है। किन्तु समाज को अवयवी मानने का यह अर्थ होता है कि प्रत्येक व्यक्ति का एक मर्यादित स्थान और उसकी एक नियत वृत्ति है और उसकी पूर्ति अन्य अवयवो और वृत्तियो से होती है। इसकी उपमा शरीर से दी जाती है। शरीर के विभिन्न अवयवो का अन्योन्य सम्बन्ध होता है तथा शरीर के साथ एक विशेष सम्बन्ध होता है। प्रत्येक अवयव की वृत्ति नियत है। वह इस विषय मे स्वतन्त्र नहीं है। अपनी नियत क्रिया को सम्पन्न करने में ही अवयव की कृतकृत्यता है और इसी प्रकार शरीर की स्थिति सम्भव है। इस दृष्टान्त को समाज मे लागू करने का यह फल होता है कि समाज के सगठन मे वर्णों का जो विभेद है उसको दार्शनिक आश्रय प्राप्त होता है।

समाज-शास्त्रियो मे ऐसे विचार के भी है जो व्यक्ति पर समाज की प्रधानता स्वीकार करते है। ये समाज का भी अपना एक व्यक्तित्व मानते है। इसके अनुसार समाज व्यक्तियो का समुदाय-मात्र नहीं है। समाज के व्यक्तित्व को ये मानव के व्यक्तित्व की अपेक्षा कहीं अधिक ऊँचा मानते है। इसके अनुसार समुदाय, समाज, राष्ट्र तथा राज्य का ही वस्तुत व्यक्तित्व है। व्यक्ति एक क्षुद्र, अकिचन अश-मात्र है, समाज रूपी बृहत् शरीर का वह एक तुच्छ कण है।

इस विचार-सरणि का २०वीं शती पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। फासिज्म को इसीसे प्रेरणा मिली थी। राष्ट्र और राज्य सब-कुछ हैं, व्यक्ति कुछ नहीं है। राष्ट्र और राज्य के व्यक्तित्व मे अपने व्यक्तित्व को विलीन करने मे ही व्यक्ति की सफलता और परि-पूर्णता है। इसी विचार ने राज्य को सर्वोपरि बना दिया और

उसको मनुष्य के जीवन के सब विभागों पर पूर्ण आधिपत्य प्रदान किया।

इस विचार के फैलने के कई कारण हैं। पूँजीवादी युग के जनतन्त्र की असफलता और बड़े पैमाने के उद्योग, व्यापार की अतिशय वृद्धि इसके मुख्य कारण हैं। राजनीतिक जनतन्त्र व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की रक्षा करता है और प्रत्येक व्यक्ति को वोट का अधिकार देता है, किन्तु वह गरीबी और बेकारी की समस्या को हल नहीं करता। इसका इलाज तो यह था कि अधूरे जनतन्त्र को पूर्ण किया जाय, आर्थिक क्षेत्र मे भी जनतन्त्र का प्रयोग किया जाय और इस प्रकार व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की रक्षा करते हुए गरीबी और बेकारी को दूर किया जाय। किन्तु ऐसा न करके जनतन्त्र पर ही आक्रमण किया और उसका उपहास किया गया। इसमे जनतन्त्र को आघात पहुँचा और वे लोग यह समझने लगे कि राजनीतिक जनतन्त्र एक प्रकार का ढोंग है। लोगो का विश्वास जनतन्त्र के उन मूल्यो पर से उठने लगा जिनको पश्चिमी यूरोप ने अनेक कष्ट सहकर और अनेक सघर्षो के पश्चात् प्राप्त किया था। इससे फासिज्म को बल मिला।

पूँजवाद के प्रसार ने छोटे पैमाने के उद्योग-व्यापार को छिन्न-भिन्न कर दिया। बैको के पास अथाह पूँजी हो गई और वह भी इस पूँजी को प्रत्यक्ष रूप से उद्योग-व्यवसाय मे लगाने लगे। बडे-बडे व्यवसायियो ने छोटे दुकानदारो पर भी धावा बोल दिया और उनके व्यापार को खत्म कर दिया। व्यवसायियो के बड़े-बड़े समुदाय बन गए और इनका मुकाबला करना असम्भव हो गया। पूँजीवाद के विकास का यही प्रकार है। आर्थिक क्षेत्र मे जब यह व्यवस्था उत्पन्न हो गई तब इसका प्रभाव सामाजिक जीवन पर पडने लगा। जिस समाज मे धन का सबसे अधिक महत्त्व हो उस समाज मे आर्थिक पद्धति सामाजिक जीवन के सब आकारों को

प्रभावित करने लगती है। इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति का महत्त्व केवल आर्थिक क्षेत्र मे ही नहीं किन्तु समस्त जीवन मे घट गया। व्यक्ति एक बडी मशीन का कल-पुरजा-मात्र रह गया और बृहत् समुदाय की तुलना मे तुच्छ और नगण्य हो गया। इस परिस्थिति मे अपने क्षुद्र व्यक्तित्व के विकास की बात सोचना अर्थशून्य हो गया, और जो इस प्रकार सोचता है वह समाज का शत्रु और व्यक्तिवादी समझा जाता है। राष्ट्र और राज्य के हित ही सर्वोपरि है और उनके लिए अपने व्यक्तिगत स्वार्थों का बलिदान करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। नागरिक अधिकार, व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य आदि व्यर्थ की बकवाद है, और यदि वस्तुत. जन-साधारण सकल अधिकार और स्वत्व का प्रभव और उद्गम-स्थान है तो राज्य, जो जन-साधारण का प्रतिनिधित्व करता है, व्यक्ति पर प्रधानता पाने का अधिकारी है। इसलिए शासक अपने शासन को सच्चा जनतन्त्र घोषित करते है।

समाजवादी भी इस विचारधारा से प्रभावित हुए। उन पर हेगेल के विचारो की छाप है। रैमजे मैकडोनाल्ड तक ने अपने ग्रन्थ मे लिखा है कि व्यक्ति उस दैवी घटना का उपकरण-मात्र है जिस ओर सारी सृष्टि बढ रही है। राज्य सर्व समष्टि के राजनीतिक व्यक्तित्व का प्रतिनिधि है, वह समष्टि के लिए सोचता-विचारता है।

कुछ समाजवादियो का कहना है कि भविष्य के आदर्श समाज मे मनुष्य अपने व्यक्तित्व का अनुभव ही नहीं करेगा और हर प्रकार से समुदाय मे विलीन हो जायगा। उसका जीवन सामुदायिक जीवन हो जायगा, उसके विचार, उसकी वेदना और उसकी अभिलाषाएँ सामुदायिक हो जायँगी।

यह विचार-सरणि व्यक्ति-महत्त्व को सर्वथा विनष्ट कर देती है और उसकी बलिवेदी पर समुदाय के महत्त्व को बढाती है।

किन्तु मार्क्स तथा एगेल्स की शिक्षा के यह सर्वथा प्रतिकूल है। कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो मे मार्क्स ने कहा है कि प्रत्येक के स्वच्छन्द विकास से सबका स्वच्छन्द विकास होता है। एक दूसरे स्थल पर मार्क्स कहते है कि श्रमजीवी तभी स्वतन्त्र है जब वह अपने उपकरणों का मालिक है। यह स्वामित्व दो मे से एक रूप धारण करता है और जब व्यक्तिगत स्वामित्व का नित्य लोप होता जाता है तब उसके लिए केवल सामुदायिक स्वामित्व रह जाता है। समाजवाद के उपक्रम के इतिहास पर यदि हम विचार करे तो मालूम होगा कि वह उस पूँजीवादी समाज के विरोध मे उत्पन्न हुआ था जो मनुष्य को वस्तु-उपकरण-मात्र बनाकर गुलाम बनाना चाहता था। मार्क्स व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए समाजवाद की स्थापना चाहते थे। समुदाय का अपना ऐसा कोई आन्तरिक माहात्म्य नहीं है। इसकी आवश्यकता स्वतन्त्रता की गारण्टी देने के लिए है। समाज मे रहकर ही व्यक्ति का विकास सम्भव है और उद्योग-व्यवसाय के युग मे राष्ट्र की सम्पत्ति के समाजीकरण से ही इस स्वतन्त्रता और पूर्ण व्यक्तित्व का आधार सम्भव है। किन्तु समाजीकरण का फल यह होता है कि राज-कर्मचारियो की प्रधानता हो जाती है और जब राजनीतिक और आर्थिक शक्ति राज्य में केन्द्रित हो जाती है तब सारा झुकाव समुदाय को प्रधानता देने का हो जाता है। तब समुदायत्व ही सिद्धान्त बन जाता है और जो आरम्भ मे एक लक्ष्य के पाने का उपकरण-मात्र था वह स्वय लक्ष्य हो जाता है। इस दोष का निवारण हो सकता है और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सामुदायिक आर्थिक जीवन मे कोई नैसर्गिक विरोध नहीं है।

समष्टिवाद के विरुद्ध काण्ट व्यक्ति को किसी बाह्य उद्देश्य की पूर्ति का साधन नहीं मानता। उसका विचार है कि प्रत्येक मानव स्वत. उद्देश्य-स्वरूप है। उसका महत्त्व सबसे अधिक है। मानव

गौरवपूर्ण है, इसके व्यक्तित्व का विकास सर्वोत्कृष्ट नियम है। इसे व्यक्तिवाद कहते है। किन्तु कुछ लोगो ने इसे अतिव्यक्तिवाद का रूप दे दिया। उनका कहना है कि व्यक्ति के विकास के लिए जायदाद पर उसका स्वामित्व होना आवश्यक है। स्वामित्व की कोई सीमा निर्धारित करनी चाहिए। ये अनियन्त्रित उद्योग व्यापार के समर्थक है। उनका मत है कि इस स्वतन्त्रता का प्रतिपेध करना व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य का प्रतिपेध करना है।

वस्तुत व्यक्ति और समष्टि में कोई नैसर्गिक विरोध नहीं है। आज के युग मे आर्थिक क्षेत्र मे समुदायत्व अनिवार्य है। इस समुदायत्व को स्वीकार करके ही हम आगे बढ़ सकते हैं, यही मानव का उत्कृष्ट मूल्य है। उसको पूर्ण विकास का अवसर मिलना चाहिए। आज करोडो लोग इस अवसर से वचित हैं। परिस्थितियाँ ऐसी है जो उसको विकास का अवसर नहीं देतीं। इन परिस्थितियो को बदलना चाहिए। स्वतन्त्र वातावरण मे ही व्यक्तित्व निखरता है, उसका विकास होता है। किन्तु स्वतन्त्रता का अर्थ उच्छृङ्खलता नहीं है, मर्यादाहीनता नहीं है। विकास-प्राप्त मानव सुसस्कृत है और जो दूसरों की स्वतन्त्रता का ध्यान रखता है, वह सयत होता है। समाज मे रहकर ही मानवोचित गुणो का विकास होता है। दया, भ्रातृत्व, त्याग आदि गुण समाज मे रहकर ही प्रादुर्भूत होते हैं। समाज द्वारा ही मानव का विकास हुआ है, किन्तु यह विकास कुछ मर्यादा स्वीकार करके ही हो सकता है। अन्तर इतना ही है कि एक मर्यादा या नियन्त्रण स्वेच्छा से स्वीकार किया जाता है, दूसरा बाहर से आरोपित होता है। समाज मे रहकर तरह-तरह के नियम मानने पडते है, अन्यथा समाज विशृंङ्खल हो जाता है और किसी को भी विकास का अवसर नहीं मिलता। अत. सबकी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए उचित मर्यादा का स्वीकार करना आवश्यक है। किन्तु यदि राज्य की ओर से

व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण होता है, यदि उसके नागरिक अधिकार सुरक्षित नहीं है, यदि उसको अपने भावो के व्यक्त करने तथा दूसरो के साथ सहयोग कर किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सगठन बनाने की स्वतन्त्रता नही है तो व्यक्ति के विकास मे बाधा पहुँचती है।

प्राचीन भारत मे वर्णाश्रम की व्यवस्था थी। इसकी रक्षा करना राज्य का कर्तव्य था। सामाजिक सगठन मे राज्य का हस्तक्षेप नहीं होता था। समाज वर्णो मे विभक्त था। प्रत्येक वर्ण की जीविका नियत थी, सामाजिक नियन्त्रण कुछ बातो मे कठोर था। खान-पान, विवाह-सम्बन्ध और जीविका के विषय मे कठोर नियन्त्रण था, किन्तु विचार की स्वतन्त्रता थी। आप चाहे ईश्वर के अस्तित्व को माने या न माने, आपका धर्म चाहे वेद-बाह्य हो, आप समाज से बहिष्कृत नहीं हो सकते। किन्तु जिस काल मे प्रतिलोम विवाह मना था उस काल मे प्रतिलोम विवाह करने पर समाज से पृथक् होना पड़ता था और जिस काल मे केवल सवर्ण विवाह की ही अनुज्ञा थी उस काल मे असवर्ण विवाह करने पर समाज से अलग होना पडता था। इसी प्रकार अन्त्यज अपनी जाति के रिवाज और नियमो से बँधे हुए थे। जो अधिकार द्विजों को प्राप्त था वह शूद्रो और दूसरे लोगो को नहीं था। आजीविका के कुलागत होने के कारण और प्रत्येक वर्ण की आजीविका के नियत होने के कारण स्वाभाविक विकास मे रुकावट होती है। किन्तु जो सन्यास ग्रहण करता था और घरबार छोडकर आध्यात्मिक चिन्तन मे लगता था उसके लिए सामाजिक नियम नहीं थे। श्रमण सब कोई हो सकते थे और निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो सकते थे। मोक्ष परम पुरुषार्थ है। उपनिषदो मे लिखा है कि मनुष्य से श्रेष्ठतर कुछ नहीं है। स्वर्ग और नरक भोग-भूमियाँ है। मनुष्य-जन्म मे ही मोक्ष की साधना हो सकती है। भव-चक्र से छुटकारा पाना

और सब बन्धनों से विनिर्मुक्त होना जीवन का चरम लक्ष्य समझा जाता है। सब दर्शनो का ध्येय मोक्ष, अपवर्ग, नि श्रेयस या निर्वाण है। इस अर्थ मे सब दर्शन मोक्ष-शास्त्र हैं। जो परम पुरुषार्थ के लिए यत्नशील है वह साधारण जन के समान आचरण नहीं करता। उसकी चर्या भिन्न है, उसका समाज मे सबसे अधिक आदर होता है, उसके लिए समाज के बन्धन नहीं है। अतः हमारे देश मे आध्यात्मिक जीवन के विषय मे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य था। किन्तु सामाजिक बन्धन कुछ बातो मे कठोर था। प्राचीन काल मे सब देशो मे अपने समाज पर व्यक्ति को बहुत कुछ आश्रित रहना पडता था। यही बात यहाँ भी थी। इसीलिए व्यक्ति पर समाज का नियन्त्रण भी अधिक था। सम्मिलित कुल की प्रणाली मे कुल का कठोर नियन्त्रण होता है। कुल इकाई समझा जाता है, व्यक्ति नहीं। मनुष्यो का सगठन कुल-कबीलो से गुजर-कर राष्ट्र के स्तर तक पहुँचा है और अब वह सब साधन एकत्र हो रहे हैं जो एक ससार, एक राज्य की भावना को साकार कर सकते है। पश्चिम यूरोप का व्यक्ति किस प्रकार कुल और धार्मिक सस्थाओ के नियन्त्रण मे स्वतन्त्र हुआ और किस प्रकार उसने राज्य के विरुद्ध लडकर नागरिक अधिकार प्राप्त किये है, इसका इतिहास बडा रोचक है। प्राचीन काल मे हमारे यहाँ राज्य की ओर से कोई ऐसे नियन्त्रण न थे जिनसे विचार-स्वातन्त्र्य को क्षति पहुँचे। समाज का नियन्त्रण अवश्य था। उसकी ओर से भी विचार की स्वतन्त्रता मे कोई बाधा न थी। किन्तु कुछ विषयो मे कार्य की स्वतन्त्रता न थी। समष्टि का इन विषयो मे व्यक्ति पर अक्षुण्ण अधिकार था।

यह स्पष्ट है कि व्यक्ति को अमर्यादित स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती, क्योकि व्यक्तियो की स्वतन्त्रता की रक्षा करनी है। मर्यादा को स्वीकार करके ही व्यक्तित्व का विकास सम्भव है,

व्यक्ति को यह स्वीकार करना पडेगा। यह ठीक है कि व्यक्ति पर परिस्थिति का प्रभाव पडता है, किन्तु यह भी सत्य है कि व्यक्ति परिस्थिति को बदलता है। मानव और प्रकृति की एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। जीवन और समाज स्थिर नहीं हैं। उनको बदलने की आवश्यकता पड़ती रहती है। यदि व्यक्ति की स्वतन्त्रता का लोप हो जाय और कानून, परम्परा और रूढि द्वारा उसको स्वतन्त्र रीति से सोचने और काम करने का अधिकार न दिया जाय तो समाज की उन्नति का क्रम बन्द हो जाय और मानवोन्नति असम्भव हो जाय। इतिहास बताता है कि जिस समाज मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण किया गया और राज्य या समाज की ओर से विचारो का दमन हुआ उस समाज मे गत्यवरोध हुआ और उसका ह्रास और पतन हुआ। विचार और सस्था के इतिहास मे एक समय आता है जब वह जड और स्थिर हो जाती है। परिस्थितियाँ बदल जाती है और वे नये विचारो और नई सस्थाओ की माँग करती है। किन्तु पुराने विचार और पुरानी सस्थाएँ मनुष्य पर ऐसा प्रभाव जमाए रहती है कि वह नये सिरे से सोचने को तैयार नहीं होता। अत समाज के स्वस्थ जीवन के लिए ऐसे केन्द्र चाहिएँ जहाँ से पुराने विचारो और संस्थाओ की आलोचना होती रहे और जिनसे नये विचारो के उपक्रम मे सहायता मिलती रहे, जिससे जीवन का प्रवाह कभी रुके नहीं और जीवन किसी सोते मे आबद्ध न हो। इसके लिए विचार-विनिमय की स्वतन्त्रता अपेक्षित है।

यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी मर्यादा को समझे तो व्यक्ति और समष्टि मे कोई झगडा नहीं है। आखिर, यह व्यक्ति का विकास है क्या ? अपनी निहित शक्तियो का पूर्ण आविर्भाव। यह कार्य समाज मे रहकर ही होता है, अन्यथा नहीं। ज्यो-ज्यों समाज ऊँचे स्तर मे उठता है त्यो-त्यो व्यक्तित्व के विकास की गहराई बढती

जाती है। एक कबीले के व्यक्ति और राष्ट्र के व्यक्ति की परस्पर तुलना करने से मालूम होगा कि राष्ट्र के विचार, अनुभव और कल्पना मे कितना आकाश-पाताल का अन्तर हो गया है। धीरे-धीरे व्यक्तित्व समृद्ध होता है। पुनः एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति, जो सकल विश्व का अपने व्यक्तित्व मे समा लेता है, राष्ट्र की सीमा का उल्लघन करता है, जाति, धर्म, रग का भेद न करके मनुष्य-मात्र के प्रति आदर और प्रीति का भाव रखता है, तथा विश्व-बन्धुत्व की भावना से प्रेरित हो अपने सब कार्यों को करता है। उसके व्यक्तित्व की उदारता, समृद्धि तथा वैचित्र्य का क्या कहना ? उसकी सूक्ष्म दृष्टि, उसकी गम्भीर और कोमल अनुभूति सकल विश्व से उसका तादात्म्य स्थापित करती है। ऐसा मनुष्य जगद्वन्द्य है। ऐसे व्यक्तित्व के लिए स्वच्छन्द वातावरण चाहिए। अत व्यक्ति और समष्टि के बीच सामजस्य का होना जरूरी है। समाज का उचित हस्तक्षेप कहाँ और किस दरजे तक हो सकता है तथा वह कौनसा क्षेत्र है, उसकी क्या सीमाएँ है जिसमे व्यक्ति का एकमात्र आधिपत्य होना चाहिए—इन बातो का निर्णय होना आवश्यक है।

हमारे समाज मे विचार-स्वातन्त्र्य रहा है। इसके कारण धार्मिक सहिष्णुता भी रही हैं। इसी कारण आज भी हम स्त्रियो को या हरिजनो को राजनीतिक अधिकार देने का विरोध नहीं करते। यूरोप को या रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्टों को वोट के सामान्य अधिकार के लिए कितना सघर्ष करना पड़ा है ! हाँ, हमारे यहाँ सामाजिक अधिकार देने के लिए अवश्य विरोध किया जाता है, क्योंकि सामाजिक सग्रन्थन ही हिन्दू-धर्म की विशेषता है। इस विचार-स्वातन्त्र्य की, जो हमारी सबसे बड़ी निधि है, हमको रक्षा करनी है और उसकी युग के अनुकूल वृद्धि भी करनी है। बिरादरी के बन्धन ढीले हो रहे हैं, व्यक्ति उनके कठोर

नियन्त्रण से मुक्त हो रहा है। किन्तु एक ओर अतिव्यक्तिवाद का भय है और दूसरी ओर यह भय है कि कहीं भविष्य मे अति-समष्टिवाद व्यक्ति को ग्रसित न कर ले। हमको इन दोनो भयो का प्रतिकार करना है और एक ऐसी व्यवस्था के लिए यत्नशील होना है जो व्यक्ति और समष्टि का उचित समन्वय कर सके। इसमे सन्देह नहीं कि मानव से श्रेष्ठतर कोई वस्तु नहीं है। किन्तु यह भी सत्य है कि समाज मे रहकर ही मानव इसका अधिकारी बन सकता है। समाज से वह अपनी शक्तियो के विकास के लिए सामग्री पाता है, समाज मे ही वह अपनी शक्तियो का प्रयोग करके उनको विकसित करता है और समाज को ही अपना सर्वस्व देकर पूर्ण और कृतकृत्य होता है।

• ६ •

जीवन में साहित्य का स्थान

(मुन्शी प्रेमचन्द)

साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है, उसकी अटारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते है, लेकिन बुनियादे मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है। उन्हे देखने को भी जी नहीं चाहेगा। जीवन परमात्मा की सृष्टि है, इसलिए अनन्त है, अबोध है, अगम्य है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है, इसलिए सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओ से परिमित है। जीवन परमात्मा को अपने कामो का जवाबदेह है या नहीं, हमे मालूम नहीं, लेकिन साहित्य तो मनुष्य के सामने जवाबदेह है। इसके लिए कानून है, जिनसे वह इधर-उधर नहीं हो सकता। जीवन का उद्देश्य ही आनन्द है। मनुष्य जीवन-पर्यन्त आनन्द ही की खोज मे पड़ा रहता है। किसी को वह रत्न द्रव्य मे मिलता है, किसी को भरे-पूरे परिवार मे, किसी को लम्बे-चौडे भवन मे, किसी को ऐश्वर्य मे, लेकिन साहित्य का आनन्द इस आनन्द से ऊँचा है, इससे पवित्र है, उसका आधार सुन्दर और सत्य है। वास्तव में सच्चा आनन्द सुन्दर और सत्य से मिलता है, उसी आनन्द को दरशाना, वही आनन्द उत्पन्न करना साहित्य का उद्देश्य है। ऐश्वर्य या भोग के आनन्द मे ग्लानि छिपी होती है। उससे अरुचि भी हो सकती है, पश्चात्ताप भी हो सकता है, पर सुन्दर से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह अखण्ड है, अमर है।

साहित्य के नौ रस कहे गए हैं। प्रश्न होगा, बीभत्स मे भी कोई आनन्द है, अगर ऐसा न होता तो वह रसो मे गिना ही क्यो जाता ? हाँ, है। बीभत्स मे सुन्दर और सत्य मौजूद है। भारतेन्दु ने श्मशान का जो वर्णन किया है वह कितना बीभत्स है। प्रेतो और पिशाचो का अधजले माँस के लोथडे नोचना, हड्डियो को चटर-चटर चबाना बीभत्स की पराकाष्ठा है, लेकिन वह बीभत्स होते हुए भी सुन्दर है, क्योंकि उसकी सृष्टि पीछे आने वाले स्वर्गीय दृश्य के आनन्द को तीव्र करने के लिए ही हुई है। साहित्य तो हर एक रस मे सुन्दर खोजता है—राजा के महल मे, रक की झोपडी मे, पहाड के शिखर पर, गंदे नालो के अन्दर, ऊषा की लाली मे, सावन-भादो की अँधेरी रात मे। और यह आश्चर्य की बात है कि रक की झोपडी मे जितनी आसानी से सुन्दर, मूर्तिमान दिखाई देता है, महल में नहीं। महलो मे तो वह खोजने से मुश्किलो से मिलता है। जहाँ मनुष्य अपने मौलिक, यथार्थ अकृत्रिम रूप मे है, वहीं आनन्द है। आनन्द कृत्रिमता और आडम्बर से कोसो दूर भागता है। सत्य का कृत्रिम से क्या सम्बन्ध, अतएव हमारा विचार है कि साहित्य मे केवल एक रस है और वह शृङ्गार है। कोई रस साहित्यिक दृष्टि से रस नहीं रहता और न उस रचना की गणना साहित्य मे की जा सकती है। जो शृङ्गार-विहीन और असुन्दर हो, जो रचना केवल वासना-प्रधान हो, जिसका उद्देश्य कुत्सित भावो को जगाना हो, जो केवल बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखे, वह साहित्य नहीं है। जासूसी उपन्यास अद्भुत होता है लेकिन हम उसे साहित्य उसी वक्त कहेगे जब उसमे सुन्दर का समावेश हो। खूनी का पता लगाने के लिए सतत उद्योग, नाना प्रकार के कष्टो का झेलना, न्याय-मर्यादा की रक्षा करना, ये भाव है, जो इस अद्भुत रस की रचना को सुन्दर बना देते है।

सत्य से आत्मा का सम्बन्ध तीन प्रकार का है—एक जिज्ञासा का सम्बन्ध है, दूसरा प्रयोजन का सम्बन्ध है और तीसरा आनन्द का। जिज्ञासा का सम्बन्ध दर्शन का विषय है, प्रयोजन का सम्बन्ध विज्ञान का विषय है और साहित्य का विषय केवल आनन्द का सम्बन्ध है। सत्य जहाँ आनन्द का स्रोत बन जाता है वहीं वह साहित्य हो जाता है। जिज्ञासा का सम्बन्ध विचार से है, प्रयोजन का सम्बन्ध स्वार्थ-बुद्धि से। आनन्द का सम्बन्ध मनोभावों से है। साहित्य का विकास मनोभावों द्वारा ही होता है। एक दृश्य या घटना या काण्ड को हम तीनों ही भिन्न-भिन्न नजरों से देख सकते है, हिम से ढके हुए पर्वत पर ऊषा का दृश्य दार्शनिक के लिए गहरे विचार की वस्तु है, वैज्ञानिक के लिए अनुसन्धान की, और साहित्यिक के लिए विह्वलता की। विह्वलता एक प्रकार का आत्म-समर्पण है। यहाँ हम पृथक्ता का अनुभव नहीं करते। यहाँ ऊँच-नीच, भले-बुरे का भेद नही रह जाता। श्री रामचन्द्र शबरी के झूठे बेर क्यों प्रेम से खाते है, कृष्ण भगवान् विदुर के शाक को क्यों नाना व्यञ्जनों से रुचिकर समझते है, इसलिए कि उन्होंने इस पार्थक्य को मिटा दिया है। उसकी आत्मा विशाल है। उसमें समस्त जगत् के लिए स्थान है। आत्मा आत्मा से मिल गई है। जिसकी आत्मा जितनी ही विशाल है वह उतना ही महापुरुष है। यहाँ तक कि ऐसे महान् पुरुष भी हो गए है, जो जड जगत् से भी अपनी आत्मा का मेल कर सके है।

आइए, देखे, जीवन क्या है? जीवन केवल जीना, खाना सोना और मर जाना नहीं है। यह तो पशुओं का जीवन है। मानव-जीवन मे भी ये सभी प्रवृत्तियाँ होती है, क्योंकि वह भी तो पशु है। पर, इनके उपरान्त वह कुछ और भी होता है। उसमे कुछ ऐसी मनोवृत्तियाँ होती है जो प्रकृति के साथ हमारे मेल में बाधक होती है, कुछ ऐसी होती है जो इस मेल मे सहायक बन

जाती है। जिन प्रवृत्तियो मे प्रकृति के साथ हमारा सामञ्जस्य बढता है, वे वाञ्छनीय होती है। जिनसे सामञ्जस्य मे बाधा उत्पन्न होती है, वे दूषित है। अहकार, क्रोध या द्वेष हमारे मन की बाधक प्रवृत्तियाँ है। यदि हम इनको बेरोक-टोक चलने दे, तो निस्सन्देह वे हमे नाश और पतन की ओर ले जायँगी, इसलिए हमे उनकी लगाम रोकनी पडती है, उन पर सयम रखना पडता है, जिससे वे अपनी सीमा से बाहर न जा सके। हम उन पर जितना कठोर सयम रख सकते है उतना ही मगलमय हमारा जीवन हो जाता है।

किन्तु नटखट लडको से डाँटकर कहना—तुम बडे बदमाश हो, हम तुम्हारे कान पकडकर उखाड लेंगे—अक्सर व्यर्थ ही होता है, बल्कि वह उस प्रवृत्ति को और हठ की ओर ले जाकर पुष्ट कर देता है। जरूरत यह होती है कि बालक मे जो सद्वृत्तियाँ है उन्हे ऐसा उत्तेजित किया जाय कि दूषित वृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से शान्त हो जायँ। इसी प्रकार मनुष्य को भी आत्म विकास के लिए सयम की आवश्यकता होती है। साहित्य ही मनोविकारो के रहस्य खोलकर सद्वृत्तियो को जगाता है। सत्य को रसो के द्वारा हम जितनी आसानी से प्राप्त कर सकते है, ज्ञान और विवेक द्वारा नहीं कर सकते, उसी भाँति जैसे दुलार-चुमकारकर बच्चो को जितनी सफलता से वश मे किया जा सकता है, डाँट-फटकार से सम्भव नहीं। कौन नही जानता कि प्रेम से कठोर-से-कठोर प्रकृति को नरम किया जा सकता है। साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नही, हृदय की वस्तु है। जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल होते है, वहाँ साहित्य बाजी मार ले जाता है। यही कारण है कि हम उपनिषदो और अन्य धर्म-ग्रन्थो को साहित्य की सहायता लेते देखते है। हमारे धर्माचार्यो ने देखा कि मनुष्य पर सबसे अधिक प्रभाव मानव-जीवन के दुख-सुख के वर्णन से ही हो सकता है और उन्होने मानव जीवन की वे कथाएं रचीं, जो आज भी हमारे आनन्द की वस्तु हैं। बौद्धो

की जातक कथाएँ, तौरेह, कुरान, इञ्जील—ये सभी मानवी कथाओ के संग्रह-मात्र है। उन्हीं कथाओं पर हमारे बड़े-बडे धर्म स्थिर है। वही कथाएँ धर्मों की आत्मा है। उन कथाओ को निकाल दीजिए, तो उस धर्म का अस्तित्व मिट जायगा। क्या उन धर्म-प्रवर्तको ने अकारण ही मानव-जीवन की कथाओं का आश्रय लिया ? नहीं, उन्होने देखा कि हृदय द्वारा ही जनता की आत्मा तक अपना सन्देश पहुँचाया जा सकता है। वे स्वय विशाल हृदय के मनुष्य थे। उन्होने मानव-जीवन से अपनी आत्मा का मल कर लिया था। समस्त मानव-जाति से उनके जीवन का सामञ्जस्य था, फिर वे मानव-चरित्रो की उपेक्षा कैसे करते ?

आदि काल से मनुष्य के लिए सबसे समीप मनुष्य है। हम जिसके सुख-दु ख, हँसने-रोने का मर्म समझ सकते हैं, उसी से हमारी आत्मा का अधिक मेल होता है। विद्यार्थी को विद्यार्थी जीवन से, कृषक को कृषक-जीवन से जितनी रुचि है, उतनी अन्य जातियो से नही, लेकिन साहित्य-जगत् मे प्रवेश पाते ही यह भेद, यह पार्थक्य मिट जाता है। हमारी मानवता जैसे विशाल और विराट् होकर समस्त मानव-जाति पर अधिकार पा जाती है, मानव-जाति ही नहीं, चर और अचर, जड और चेतन सभी उसके अधिकार मे आ जाते है। उसे मानो विश्व की आत्मा पर साम्राज्य प्राप्त हो जाता है। श्री रामचन्द्र राजा थे, पर आज रक भी उनके दु ख से उतना ही प्रभावित होता है, जितना कोई राजा हो सकता है। साहित्य वह जादू की लकडी है, जो पशुओ मे, ईंट-पत्थरो मे, पेड़-पौधो मे विश्व की आत्मा का दर्शन करा देती है। मानव-हृदय का जगत्, इस प्रत्यक्ष जगत जैसा नहीं है। हम मनुष्य होने के कारण मानव-जगत् के प्राणियो मे अपने को अधिक पाते है, उसके सुख-दु ख, हर्ष और विषाद से ज्यादा विचलित होते है। हम अपने निकटतम बन्धु-बान्धवो से अपने को इतना निकट नहीं

पाते, इसलिए कि हम उसके एक-एक विचार, एक-एक उद्गार को जानते है, उसका मन हमारी नजरो के सामने आईने की तरह खुला हुआ है। जीवन मे ऐसे प्राणी हमे कहॉ मिलते है, जिनके अन्त:करण मे हम इतनी स्वाधीनता से विचर सके। सच्चे साहित्यकार का यही लक्षण है कि उसके भावो मे व्यापकता हो, उसने विश्व की आत्मा से ऐसी Harmony प्राप्त कर ली हो कि उसके भाव प्रत्येक प्राणी को अपने ही भाव मालूम हो।

साहित्यकार बहुधा अपने देश-काल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश मे उठती है तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असम्भव हो जाता है। उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बन्धुओं के कष्टो से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता मे वह रो उठता है, पर उसके रुदन मे भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है। 'टाम काका की कुटिया' गुलामी की प्रथा से व्यथित हृदय की रचना है, पर आज उस प्रथा के उठ जाने पर भी उसमे वह व्यापकता है कि हम लोग भी उसे पढकर मुग्ध हो जाते है। सच्चा साहित्य कभी पुराना नहीं होता, वह सदा नया बना रहता है। दर्शन और विज्ञान समय की गति के अनुसार बदलते रहते हैं, पर साहित्य तो हृदय की वस्तु है और मानव-हृदय मे तब्दीलियॉ नहीं होतीं। हर्ष और विस्मय, क्रोध और द्वेष, आशा और भय, आज भी हमारे मन पर उसी तरह अविकृत है, जैसे आदिकवि वाल्मीकि के समय मे थे और कदाचित् अनन्त तक रहेगे। रामायण का समय अब नहीं है, महाभारत का समय भी अतीत हो गया, पर ये ग्रन्थ अभी तक नये है। साहित्य ही सच्चा इतिहास है, क्योकि उसमे अपने देश और काल का जैसा चित्र होता है, वैसा कोरे इतिहास मे नहीं हो सकता। घटनाओं की तालिका इतिहास नहीं है और न राजाओं की लडाइयॉ ही इतिहास है। इतिहास

जीवन के विभिन्न अगो की प्रगति का नाम है, और जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन वस्तु डाल सकती है, क्योंकि साहित्य अपने देश-काल का प्रतिबिम्ब होता है।

जीवन मे साहित्य की उपयोगिता के विषय मे कभी-कभी सन्देह किया जाता है। कहा जाता है, जो स्वभाव से अच्छे है, वे अच्छे हो रहेगे, चाहे कुछ भी पढे। जो स्वभाव के बुरे है, वे बुरे ही रहेगे, चाहे कुछ भी पढे। इस कथन मे सत्य की मात्रा बहुत कम है। इसे सत्य मान लेना मानव-चरित्र को बदल देना होगा। जो सुन्दर है, उसकी ओर मनुष्य का स्वाभाविक आकर्षण होता है। हम कितने ही पतित हो जायॅ, पर असुन्दर की ओर हमारा आकर्षण नहीं हो सकता। हम कर्म चाहे कितने ही बुरे करे पर यह असम्भव है कि करुणा, दया, प्रेम और भक्ति का हमारे दिलो पर असर न हो। नादिरशाह से ज्यादा निर्दयी मनुष्य और कौन हो सकता है—हमारा आशय दिल्ली मे कत्ले-आम कराने वाले नादिरशाह से है। अगर दिल्ली का कत्ले-आम सत्य घटना है, तो नादिरशाह के निर्दयी होने मे कोई सन्देह नहीं रहता। उस समय, आपको मालूम है, किस बात से प्रभावित होकर उसने कत्ले-आम को बन्द करने का हुक्म दिया था। दिल्ली के बादशाह का वजीर एक रसिक मनुष्य था। जब उसने देखा कि नादिरशाह का क्रोध किसी तरह नहीं शान्त होता और दिल्ली वालो के खून की नदी बहती चली जाती है, यहाँ तक कि खुद नादिरशाह के मुँह-लगे अफसर भी उसके सामने आने का साहस नहीं करते थे, तो वह हथेली पर जान रखकर नादिरशाह के पास पहुँचा और यह शेर पढा

'कसे न मॉद कि दीगर ब तेगे नाज कुशी।
मगर कि जिन्दा कुनी खल्क राव बाज कुशी॥'

इसका अर्थ यह है कि तेरे प्रेम की तलवार ने अब किसी को

जिन्दा न छोडा। अब तो तेरे लिए इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है कि तू मुर्दो को फिर जिला दे और फिर उन्हे मारना शुरू करे। यह फारसी के एक प्रसिद्ध कवि का श्रृङ्गार-विषयक शेर है, पर इसे सुनकर कातिल के दिल मे मनुष्य जाग उठा। इस शेर ने उसके हृदय के कोमल भाग को स्पर्श किया और कत्ले-आम तुरन्त बन्द करा दिया गया। नेपोलियन के जीवन की घटना भी प्रसिद्ध है, जब उसने एक अँग्रेज मल्लाह को झाऊ की नाव पर कैले का समुद्र पार करते देखा। जब फ्रासीसी अपराधी मल्लाह को पकडकर नेपोलियन के सामने लाये और उससे पूछा—तू इस भगुर नौका पर क्यो समुद्र पार कर रहा था, तो अपराधी ने कहा—इसलिए कि मेरी वृद्धा माता घर पर अकेली है, मैं उसे एक बार देखना चाहता था। नेपोलियन की आँखो मे आँसू छलछला आए। मनुष्य का कोमल भाग स्पन्दित हो उठा। उसने उस सैनिक को फ्रासीसी नौका पर इगलैड भेज दिया। मनुष्य स्वभाव से देव-तुल्य है। जमाने के छल-प्रपञ्च या और परिस्थितियो के वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है—उपदेशो से नहीं, नसीहतो से नहीं, भावो को स्पन्दित करके, मनके कोमल तारो पर चोट लगाकर, प्रकृति से सामञ्जस्य उत्पन्न करके। हमारी सभ्यता साहित्य पर ही आधारित है। हम जो कुछ है, साहित्य के ही बनाये हुए है। विश्व की आत्मा के अन्तर्गत भी राष्ट्र या देश की एक आत्मा होती है। इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है—साहित्य। यूरोप का साहित्य उठा लीजिए। आप वहाँ सघर्ष पाएँगे। कहीं खूनी काण्डो का प्रदर्शन है, कहीं जासूसी कमाल का, जैसे सारी सस्कृति उन्मत्त होकर मरु मे जल खोज रही है। उस साहित्य का परिणाम यही है कि वैय-क्तिक स्वार्थ-परायणता दिन-दिन बढ़ती जाती है, अर्थ-लोलुपता की कहीं सीमा नहीं, नित्य दगे, नित्य लडाइयाँ। प्रत्येक वस्तु स्वार्थ

के काँटे पर तोली जा रही है, यहाँ तक कि अब किसी यूरोपियन महात्मा का उपदेश सुनकर भी सन्देह होता है कि इसके परदे मे स्वार्थ न हो। साहित्य सामाजिक आदर्शों का स्रष्टा है। जब आदर्श ही भ्रष्ट हो गया तो समाज के पतन मे बहुत दिन नहीं लगते। नई सभ्यता का जीवन १५० साल से अधिक नही, अभी से ससार उससे तग आ गया है, पर इसके बदले मे उसे कोई ऐसी वस्तु नहीं मिल रही है, जिसे वहाँ स्थापित कर सके। उसकी दशा उस मनुष्य की-सी है जो यह तो समझ रहा है कि वह जिस रास्ते पर जा रहा है, वह ठीक रास्ता नहीं है, पर वह इतनी दूर जा चुका है कि अब लौटने की उसमे सामर्थ्य नहीं। वह आगे ही जायगा, चाहे उधर कोई समुद्र ही क्यो न लहरें मार रहा हो। उसमे नैराश्य का हिसक बल है, आशा की उदार शक्ति नहीं। भारतीय साहित्य का आदर्श उसका त्याग और उत्सर्ग है। यूरोप का कोई व्यक्ति लखपति होकर, जायदाद खरीदकर, कम्पनियो मे हिस्से लेकर, और ऊँची सोसायटी मे मिलकर अपने को कृतकार्य समझता है। भारत अपने को उस समय कृतकार्य समझता है, जब वह इस माया-बन्धन से मुक्त हो जाता है, जब उसमे भोग और अधिकार का मोह नहीं रहता। किसी राष्ट्र की सबसे मूल्यवान् सम्पत्ति उसके साहित्यिक आदर्श होते है। व्यास और वाल्मीकि ने जिन आदर्शो की सृष्टि की, वे आज भी भारत का सिर ऊँचा किये हुए है। राम अगर वाल्मीकि के साँचे मे न ढलते, तो राम न रहते। सीता भी उसी साँचे मे ढलकर सीता हुई। यह सत्य है कि हम सब ऐसे चरित्रो का निर्माण नहीं कर सकते, पर धन्वन्तरि के एक होने पर भी ससार मे वैद्यो की आवश्यकता रही है और रहेगी।

ऐसा महान् दायित्व जिस वस्तु पर है उसके निर्माताओ का पद कुछ कम जिम्मेदारी का नहीं है। कलम हाथ मे लेते ही हमारे

सिर पर बडी भारी जिम्मेदारी आ जाती है। साधारणत युवावस्था मे हमारी निगाह पहले विध्वस करने की ओर उठ जाती है। हम सुधार करने की धुन मे अन्धाधुन्ध शर चलाना शुरू करते हैं। खुदाई फौजदार बन जाते है। तुरन्त ऑखे काले धब्बो की ओर पहुँच जाती है। यथार्थवाद के प्रवाह मे बहने लगते हैं। बुराइयों के नग्न चित्र खींचने मे कला की कृतकार्यता समझते है। यह सत्य है कि कोई मकान गिराकर ही उसकी जगह नया मकान बनाया जाता है। पुराने ढकोसलो और बन्धनो को तोडने की जरूरत है, पर इसे साहित्य नहीं कह सकते। साहित्य तो वही है, जो साहित्य की मर्यादाओ का पालन करे। हम अक्सर साहित्य का मर्म समझे बिना ही लिखना शुरू कर देते है। शायद हम समझते है कि मजेदार, चटपटी और ओजपूर्ण भाषा लिखना ही साहित्य है। भाषा भी साहित्य का एक अग है, पर स्थायी साहित्य विध्वस नहीं करता, निर्माण करता है। वह मानव-चरित्र की कालिमाएँ नहीं दिखाता, उसकी उज्ज्वलताएँ दिखाता है। मकान गिराने वाला इञ्जीनियर नही कहलाता, इञ्जीनियर तो निर्माण ही करता है। हममे जो युवक साहित्य को अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहते है, उन्हे बहुत आत्म सयम की आवश्यकता है, क्योंकि वह अपने को एक महान् पद के लिए तैयार कर रहा है, जो अदालतो मे बहस करने या कुर्सी पर बैठकर मुकदमे का फैसला करने से कहीं ऊँचा है। उसके लिए केवल डिग्रियाँ और ऊँची शिक्षा काफी नहीं। चित्त की साधना, सयम, सौंदर्य, तत्त्व का ज्ञान, इनकी कहीं ज्यादा जरूरत है। साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए। भावों का परिमार्जन भी इतना ही वाञ्छनीय है। जब तक हमारे साहित्य-सेवी इस आदर्श तक न पहुँचेगे, तब तक हमारे साहित्य से मगल की आशा नहीं की जा सकती। अमर साहित्य के निर्माता विलासी प्रवृत्ति के मनुष्य नहीं थे। वाल्मीकि और

व्यास दोनो तपस्वी थे। सूर और तुलसी भी विलासिता के उपासक न थे। कबीर भी तपस्वी ही थे। हमारा साहित्य अगर आज उन्नति नहीं करता, तो इसका कारण यही है कि हमने साहित्य-रचना के लिए कोई तैयारी नहीं की। दो-चार नुस्खे याद करके ही हकीम बन बैठे। साहित्य का उत्थान राष्ट्र का उत्थान है और हमारी ईश्वर से यही याचना है कि हममें सच्चे साहित्य-सेवी उत्पन्न हों, सच्चे तपस्वी, सच्चे आत्म-ज्ञानी!

• ७ •

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्

(डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी)

भारतीय धर्म-साधना का इतिहास बहुत जटिल है। साधारणत इस धर्म—मत का अध्ययन करने के लिए वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्य का अध्ययन किया जाता है। अब तक हमारे पास जो भी साहित्य उपलब्ध है वह आर्य-भाषाओ मे लिखित साहित्य ही है, फिर चाहे वह सस्कृत मे लिखा गया हो या पाली मे या प्राकृत मे। परन्तु एक बार यदि हम भारतीय साहित्य को सावधानी से देखे और भारतीय जन-समूह को ठीक-ठीक पहचानने की कोशिश करे, तो साफ मालूम होगा कि केवल आर्य-भाषाओ मे लिखित साहित्य कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यो न हो इस देश की जनता के विश्वासो और धर्म-साधनाओ की जानकारी के लिए वह पर्याप्त बिलकुल नही है। आर्यो की पूर्ववर्ती और परवर्ती अनेक आर्येतर जातियाॅ इस देश मे रहती है और उनमे से अधिकाश धीरे-धीरे आर्य-भाषा-भाषी होती गई है। इन जातियो की अपनी पुरानी भाषाएं क्या थीं और उन भाषाओ मे उनका लिखित या अलिखित साहित्य कैसा था, यह जानने का साधन हमारे पास बहुत कम बच रहा है। यह तो अब माना जाने लगा है कि आर्यो से भी पहले देश मे महान् द्रविड सभ्यता विद्यमान थी। उस सभ्यता के अनेक महत्त्वपूर्ण उपादान बाद मे भारतीय धम-साधना के अविच्छेद्य

अग बन गए है, पर इतना ही पर्याप्त नहीं है। द्रविड सभ्यता का सम्बन्ध सुदूर मिस्र और वैबिलोनिया तक स्थापित किया जा सका है और यद्यपि अब धीरे-धीरे पण्डितों का विश्वास होता जा रहा है कि द्रविड जाति (रेस) की कल्पना कल्पना-मात्र ही नहीं है, पर एक समृद्ध आर्य-पूर्व द्रविड सभ्यता की धारणा और भी पुष्ट हुई है।

इधर निषाद या कोल-भाषाओं के अध्ययन से एक बिलकुल नई बात की ओर पण्डित-मण्डली का ध्यान आकृष्ट हुआ है। ऐसा जान पड़ता है कि इन कोल-भाषा-भाषी लोगों की जो अब तक जगली समझकर उपेक्षा की गई थी वह एकदम अनुचित और निराधार थी। इन भाषाओं का सम्बन्ध आस्ट्रेलिया और एशिया में फैली हुई अनेक जन-भाषाओं से स्थापित किया गया है और यह विश्वास दृढ़ हुआ है कि आज के हिन्दू समाज में अनेक जातियाँ है, जिनका मूल निषाद (आस्ट्रो-एशियाटिक या आस्ट्रिक) जातियों में खोजना पडेगा। हमारे अनेक नगरों के नाम इस भाषा मे लिये गए है, खेती-बारी के औजार और अन्य उपयोगी शब्दों के नाम इन भाषाओं के आयरूप है और हिन्दू धर्म मे श्रद्धा और सम्मान पाने वाले बहुत से विश्वास मूलत निषाद जातियों के है। प्रो० सिल्वालेवी और उनके प्रज्युलुस्की आदि शिष्यों ने जिन थोडे से भाषा-शास्त्रीय तत्त्वों का रहस्योद्घाटन किया है उनके आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि हमारे अनेक धर्म-विश्वासो का मूल भी इन जातियों मे खोजा जा सकता है।

पिछले कुछ वर्षों में सभी आर्येतर विश्वासो को द्रविड़-विश्वास कह देने की प्रवृत्ति बढ गई है। इस प्रकार शिव और विष्णु की पूजा भी द्रविड़ विश्वास है, पुनर्जन्म और कर्म-फल मे विश्वास भी द्रविड सभ्यता की देन है और वैराग्य और घोर तप पर जोर देना भी द्रविड विश्वास है। पर अब इस प्रकार की बातो

की अधिक छान-बीन की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है। सभी आर्य-पूर्व और आर्येतर विश्वासो का मूल खोजना कठिन है।

हमारे देश के इतिहास का बहुत बडा विरोधाभास यह है कि अपेक्षाकृत नये ग्रन्थ अपेक्षाकृत पुरानी बातो को भी बता सकते है। इस प्रकार कूर्म पुराण की रचना छान्दोग्य उपनिषद् के बाद में हुई है, परन्तु इसलिए यह जरूरी नहीं कि कूर्म पुराण मे कही हुई सभी बाते छान्दोग्य मे कही हुई सभी बातो से नई ही हो। हो सकता है कि इस पुराण में सग्रहीत कुछ बाते छान्दोग्य से भी पहले की हो। जैन आगमो का सकलन बहुत बाद मे हुआ है, पर इसीलिए यह नहीं कहा जा सकता कि इन आगमो मे सकलन-काल के पूर्व की बाते नही है। यही नही, यह भी हो सकता है कि एक अत्यन्त परवर्ती हिन्दी-पुस्तक मे किसी अत्यन्त पुरानी परम्परा का विकृत रूप उपलब्ध हो जाय। इस विरोधाभास का कारण क्या है, यह हमे अच्छी तरह जान लेना चाहिए।

जैसा कि बताया गया है, इस देश मे अनेक आर्य-पूर्व जातियाँ थीं। उनकी अपनी भाषाएं थीं और अपने विश्वास थे। आर्यों का इन जातियो से पर्याप्त सघर्ष करना पडा था। पुराणो मे असुरो, दैत्यो और राक्षसो के साथ इन प्रचण्ड सघर्षों की कथा मिल जाती है। यह इतनी पुरानी बात है कि इन सघर्षशील जातियो का देवयोनिजात नाम लिया गया है। कुछ पण्डित ऐसा विश्वास करने लगे है कि विश्व-व्यापी जल-प्रलय के पूर्व की ही ये घटनाएँ होगी। इस महाप्रलय का वर्णन सभी देशो के साहित्य मे पाया जाता है, भारतीय साहित्य मे तो है ही। कहा जाता है कि इस महाप्रलय मे बहुत-कुछ नष्ट हो गया और बची हुई मानव-जाति को नये सिरे से ससार-यात्रा शुरू करनी पड़ी। इस जल-प्रलय के पूर्व की सभी जातियो को 'देवता' मान लिया गया है। उनमे जो ज्यादा तामसिक मानी गई उन्हे राक्षस, असुर आदि

पुराने नामो से ही पुकारा गया, पर इन शब्दो से अर्थ दूसरा ही लिया गया। इन तामसिक शक्तियो को भी देवयोनिजात मानकर इनमे अनेक अद्भुत गुणो की कल्पना की गई। मै स्वय इस मत को सन्देह की दृष्टि से ही देखता हूँ, पर इसमे सन्देह नहीं कि ये सघर्ष बहुत पुराने और प्राय भूले हुए जमाने के परम्परा-लब्ध कथानक है।

ये जातियाँ धीरे-धीरे आर्य भाषा-भाषी होती गई है। कुछ तो अन्त तक आर्य भाषा भाषी नहीं बन सकीं और पहाड़ों, जगलों और दूरवर्ती स्थानो मे आश्रय लेकर अपनी भाषा और धर्म-विश्वासो को कथचित् जिलाये रख सकीं। जो लोग आर्य-भाषा-भाषी हुए उन्होंने अपने विश्वासो को आर्य भाषा के माध्यम से कहना शुरू किया। इन वेद-बाह्य धर्म-साधनाओ का सस्कृत मे आना बहुत विचार-सघर्ष का कारण हुआ। सन् ईस्वी की प्रथम सहस्राब्दी में ही इस सघर्ष का आभास मिलने लगता है। सातवीं-आठवीं शताब्दी मे तो किसी मत को वेद-बाह्य कहकर लोक-चक्षु मे हीन करने की प्रवृत्ति अपने पूरे चढाव पर मिलती है और उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही तीव्र होकर प्रकट हुई है।

इस प्रतिक्रिया को न तो हम श्रमण-सस्कृति का प्रभाव कह सकते है और न इसे वेद-सम्मत मत कहने का ही कोई बहाना है। यह स्पष्ट रूप से वेद-विरोधी है। हम इसे वेद-बाह्य श्रमणेतर सस्कृति कहना चाहे तो कोई हानि नहीं है।

साधारणत वेद-बाह्य भारतीय धर्म का प्रसग उठने पर बौद्ध और जैन मतो की बात ही स्मरण की जाती है। परन्तु एक अन्य भाव-धारा भी इस देश मे काफी प्रबल थी जो वेद-बाह्य भी थी और श्रमण सस्कृति से भिन्न थी। इस वेद-बाह्य श्रमणेतर संस्कृति के विषय मे अभी विशेष आलोचना नहीं हुई है, क्योकि एक तो इसका साहित्य बहुत कम बच पाया है, दूसरे जो साहित्य बचा

भी है उस पर परवर्ती काल का रंग भी चढ गया है।

विक्रम की सातवीं-आठवीं शताब्दी के बाद हिन्दू आचार्यों मे एक ही विशिष्ट प्रवृत्ति पाई जाती है। वे किसी मत को जब हेय और नगण्य सिद्ध करना चाहते है तो उसे वेद-बाह्य का श्रुति-विरोधी घोषित कर देते है। सातवीं-आठवीं शताब्दी के बाद धीरे-धीरे इन वेद-बाह्य और श्रुति विरोधी घोषित किये गए सम्प्रदायो मे अपने को वैदिक और श्रुति-सम्मत कहने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए सबसे अचूक अस्त्र यह समझा गया है कि जो व्यक्ति वेद-बाह्य कहे उसीको वेद-बाह्य कह-कर छोटा बना दिया जाय। शंकराचार्य ने पाशुपतो का वेद-बाह्य कहा था और बाद मे शंकर को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहने का अपयश भोगना पडा। परवर्ती साहित्य मे एक मत का आचार्य दूसरे विरोधी मत को प्राय ही वेद-बाह्य कह देता है।

परन्तु जहाँ कुछ मत अपने को वेद सम्मत सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे थे वहीं कुछ ऐसे भी मत थे जो अपने का खुल्लम-खुल्ला वेद-विरोधी मानते रहे। कापाल, लाकुल, वाममार्गी तथा अन्य अनेक शाक्ति और शैव मत अपने को केवल वेद-विरोधी ही नहीं मानते रहे, बल्कि वेद-मार्ग को निम्न कोटि का भी समझते रहे। इनके ग्रन्थो मे प्रत्येक वेद-विहित मत और नैतिक आदर्श को हीन बताया गया है और अत्यन्त धक्कामार भाषा मे आक्रमण किया गया है।

यद्यपि अन्त तक ये मत अपना वेद-विरोधी स्वर कायम नहीं रख सके, फिर भी शुरू-शुरू मे इनके धक्कामार और तिलमिला देने वाले वचनो की पारमार्थिक व्याख्या की गई और बाद मे उन्हे विशुद्ध श्रुति-सम्मत मार्ग सिद्ध किया गया।

उत्तर को अनेक जातियाँ और अनेक सम्प्रदाय इन आर्य-पूर्व सभ्यताओं की स्मृति वहन करते आ रहे है। इन सम्प्रदायो के

अध्ययन से हमें अनेक भूली बातों की जानकारी प्राप्त होगी।

यह समझना ठीक नहीं कि वर्तमान युग मे प्रचलित लोक-जाति और लोक-कथानक तथा विभिन्न जातियो और सम्प्रदायो की रीति-रस्मे हमे केवल वर्तमान की ही बात बता सकती हैं। हो सकता है कि ये हमे घने अन्धकार को भेद सकने योग्य प्रकाश दे और हम अतीत के कुज्झटिकाच्छन्न काल मे पैठ सके।

मनुष्य के उत्थान-पतन का इतिहास बडा मनोरजक है। न जाने कितने मूलो से मनुष्य ने अपना धर्म-विश्वास सचय किया है। जातिगत और सम्प्रदाय-गत सकीर्णताओ से जर्जरित काल मे यदि हम जान सके कि मनुष्य कितना ग्रहणशील प्राणी है, वह किस निर्भयता के साथ सस्कृति के साथ चिपटे हुए सडे छिलको को फेकता आया है और किस दुर्वार शक्ति से अन्य श्रेणियो के सत्य को ग्रहण करता आया है तो यह कम लाभ नहीं है। भारतीय धर्म-साधना का इतिहास इस दिशा मे बहुत सहायक है।

हमारा वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्य विशाल है। बहुत बडे देश और दीर्घ काल को व्याप्त करके यह साहित्य लिखा गया है। देश और काल का प्रभाव इस पर सर्वत्र है। इनके निपुण अध्ययन से तत्कालीन अन्य मतो का भी कुछ आभास पाया जाता है। यह भी पता चलता है कि किस प्रकार ये मत अन्य मतो से प्रभावित होकर नया रूप ग्रहण करते आए है। जो लोग धर्म—मत को अनादि और सनातन मानते है वे भूल जाते है कि सभी धर्म-विश्वास बदलते रहे है, कभी-कभी उनके स्थान पर एकदम नवीन विश्वास ने प्रतिष्ठा पाई है और कभी-कभी उनमे थोडा सस्कार हुआ है और उन्हे नया रूप प्राप्त हो गया है।

शास्त्र मे कहा है—'धर्मस्य तत्त्व निहित गुहायाम्।' यह कथन ऐतिहासिक अर्थ मे सत्य है। केवल धर्म ग्रन्थो के अध्ययन से हम नहीं समझ सकते कि हमारे विश्वासो का वर्तमान रूप किस प्रकार

प्राप्त हुआ है। और भी पारिपार्श्विक परिस्थितियो का ज्ञान होना चाहिए। पुरातत्त्व, भाषा-विज्ञान, नृतत्त्व-विज्ञान और इतिहास की अविच्छिन्न धारा का ज्ञान भी आवश्यक है। नाना स्तरो मे विभाजित हमारी सम्पूर्ण जनता ही हमारे अध्ययन का मुख्य साधन है। धर्म का तत्त्व और भी गहराई मे है। वह सचमुच ही गुहा मे निहित है। उस अन्ध तिमिरावृत गुहा मे जो भी प्रकाश पहुँचा सके वही धर्म-साधना के विद्यार्थी के लिए सम्माननीय है।

• ८ •

जिज्ञासा

(डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल)

मैं कौन हूँ, यह सृष्टि क्या है, इसका बनाने वाला कौन है, यह कब बनी और कब इसका अन्त होगा, मैं स्वय भविष्य मे रहूँगा या नहीं, इससे पूर्व मेरा अस्तित्व था या नहीं, मैं सुखी क्यो हूँ, प्राणी दुखी क्यो है, उनके कर्मो का फल होता है या नहीं, सच्चा सुख क्या है, मनुष्य का प्रकृति के साथ क्या सम्बन्ध है, इन्द्रियों मे होने वाला ज्ञान विश्वास के योग्य है या नहीं—इस प्रकार के असख्य प्रश्नो की जिज्ञासा से दार्शनिक विचार का जन्म होता है। मनुष्य को जब से अपने इतिहास का ज्ञान है, तब से आज तक कोई समय ऐसा नहीं हुआ, जब उसकी मननात्मक प्रवृत्ति ने उसे चेन से बैठने दिया हो। विचारो का बवडर न केवल संसार के दु खो से पीडित प्राणी को ही झकझोरता है, वरन् कभी-कभी सब प्रकार से सुखी मनुष्य के मन मे भी उथल-पुथल मचा डालता है। यह आँधी जितनी बलवती होती है, उतनी ही गहराई से मनुष्य विचार करने पर विवश होता है। 'कस्त्व कोऽहम्' की मीमासा मनुष्य के लिए उतनी ही आवश्यक है, जितनी कि अन्न-वस्त्रादि द्वारा उसका सामान्य रहन-सहन। गौतम बुद्ध के जीवन से हम इस नियम की सत्यता को समझ सकते हैं। एक-छत्र राज्य का अपरिमित वैभव जिस विलास की सामग्री को

उपस्थित कर सकता है, उसके बीच सुकुमारता से पले हुए राज-कुमार सिद्धार्थ को कोई भी प्रलोभन विषयोपभोग के बन्धन मे बॉधकर नहीं रख सका। जिस समय मनुष्य के मन मे ऊपर कहे हुए विचारो का चक्र चलता है, विषयो का मधुर आस्वाद उसे विष के समान जान पडता है। विचारो की वह झंझावात ही सच्ची जिज्ञासा है। इस प्रकार की जिज्ञासा ही दर्शन की जननी है। यह जिज्ञासा दिव्य अग्नि के समान है। इससे दग्ध मनुष्य का हृदय ही सत्य की प्राप्ति का एक-मात्र पुण्य-स्थल है।

भारतीय दर्शन का सूत्रपात करने वाले मनुष्यो ने जिज्ञासा को बडा महत्त्व दिया है। 'जिज्ञासु' पद हमारे यहॉ एक विशेष अधिकार को सूचित करता है। जो जिज्ञासु नहीं है, जिसमे 'जानने' की भूख नही है, वह दार्शनिक ज्ञान का अधिकारी नहीं माना जा सकता। बहुधा जब हम अपने सम्बन्ध से अथवा अन्य किसी के सम्बन्ध से मृत्यु के नाटक के अति सन्निकट होते है, तब हमारी जिज्ञासा-वृत्ति जागरूक हो उठती है और उस समय 'कस्त्व कोऽहम्' के प्रश्न हमे सच्चे और आवश्यक जान पडते है। हमारे साहित्य मे जिज्ञासा-वृत्ति का सर्वोत्तम उदाहरण नचिकेता[1] है। उसकी जिज्ञासा का उदय भी यम के सान्निध्य मे होता है।

---

1 इसका उपाख्यान कठ उपनिषद् मे है। यह वाजश्रवा ऋषि का पुत्र था। एक बार ऋषि ने दक्षिणा मे बूढी गौएँ दान दी। तब पिता से वह बार-बार पूछने लगा कि 'मुझे किसको दे रहे है ?' पिता ने रोष मे कह दिया कि मै तुम्हे यम को अर्पित करता हूँ। इस पर नचिकेता यम (मृत्यु) के पास चला गया। यम से उसने 'ब्रह्म' के सम्बन्ध में कई प्रश्न किये। यम ने तरह-तरह के प्रलोभन देकर इस जिज्ञासा को छोड देने के लिए उसे फुसलाया, किन्तु नचिकेता ने अपनी टेक न छोडी। अन्त मे यम ने उसे 'ब्रह्मज्ञान' का उपदेश दिया।

नचिकेता (न + चिकेतस्) शब्द का अर्थ ही यह है कि जिसके अन्दर जानने की उत्कट इच्छा हो परन्तु जो जानता न हो। जिज्ञासा के वर को नचिकेता सर्वश्रेष्ठ समझता है नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् (कठ उपनिषद् १।२२)

अर्थात् मृत्यु के बाद मनुष्य का अस्तित्व है या नहीं, प्राणी का स्वरूप क्षण-भगुर है अथवा नित्य तत्त्व वाला है—इस प्रश्न के समान अन्य कोई प्रश्न नहीं है, इसलिए इस शका के समाधान का वरदान ही सर्वातीत है। नचिकेता के प्रलोभन के लिए यमराज उसके सामने अनेक कामनाएँ रखता है—चिरजीवी पुत्र-पौत्र, बहुत से पशु-सवारियाँ, अमित धनराशि, पृथ्वी का राज्य, सुन्दर स्त्रियाँ, कल्पान्त आयु—जितने भी मर्त्यलोक के दुर्लभ काम है, हे जिज्ञासु, उनको अपनी इच्छानुसार तुम चुन सकते हो। यही वैभव तो गौतम बुद्ध के सामने भी था। परन्तु दार्शनिक प्रश्नो की मीमासा इस लौकिक सामग्री से कभी सम्भव नहीं। नचिकेता ने जो उत्तर दिया था, वह उत्तर दार्शनिक ससार के प्रमुख तोरण द्वार पर आज अमिट अक्षरो मे लिखा हुआ है—यदि मनुष्य का मरण ध्रुव है, तो उसके लिए ये अनित्य पदार्थ किस काम के हैं? इनसे इन्द्रियो का तेज क्रमश क्षीण होता रहता है। जीवन की अवधि स्वल्प है, इसमे नृत्य-गीत के लिए स्थान कहाँ? चाँदी और सोने के रुपहले सुनहले टुकड़ों से मनुष्य का पेट कब भरा है?[1] सुनहरे दलदल मे पड़ने से पहले ही उस महान् प्रश्न का समाधान ढूँढने का प्रयत्न करना उचित है।

यह मन स्थिति ही सच्ची जिज्ञासा है। हमारे दार्शनिक साहित्य मे कठ उपनिषद् का नचिकेता-उपाख्यान इसीलिए महत्त्वपूर्ण है। जितने ज्वलन्त रूप मे दार्शनिक जिज्ञासा का परिचय हमे यहाँ मिलता है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं। इस बात मे

---

१ न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य (कठ उपनिषद् १।२७)

सन्देह है कि ससार के दार्शनिक इतिहास मे अन्य किसी भी देश मे जिज्ञासा के महत्त्व और स्वरूप को समझने का ऐसा सुन्दर प्रयत्न किया गया हो। जिज्ञासा के साथ दार्शनिक विचारो की उद्भावना व्योमविहारी पक्षिराज गरुड़ की उडान के सदृश है। बिना सच्ची जिज्ञासा के तत्त्व-ज्ञान की उधेड-बुन बुद्धि का कौतूहल मात्र रह जाता है। दिमाग की पैतरेबाजी से जिस दर्शन का जन्म होता है, उसे भारतीय परिभाषा के अनुसार 'दर्शन' कह सकना कठिन है। हम यह नहीं कहते कि इस प्रकार दिमाग पर ज़ोर डालकर दर्शन की सृष्टि यहाँ कभी नहीं की गई, हमारा आशय तो इतना ही है कि जिज्ञासा के बाद जो तत्त्व-ज्ञान की मीमासा की जाती है, उसके और शुष्क दर्शन के भेद को ठीक तरह समझ लिया जाय।

यदि उपरोक्त दो प्रकार की परिस्थितियों मे पनपने वाली दार्शनिक विचारधाराओ के भेद की गहरी छानबीन की जाय तो हम दो परिणामो पर पहुँचते है—पहला भेद तो दर्शन की परिभाषा से सम्बन्ध रखता है और दूसरा उसके फल से। यहाँ पर हमको दर्शन के लिए जो अग्रेजी शब्द है, उसके साथ भी परिचय प्राप्त करना चाहिए। अग्रेजी मे दर्शन को Philosophy (फिलासफी) कहते है। पश्चिम की अन्य भाषाओ मे भी प्रायः यही शब्द व्यवहृत होता है। जिस प्रकार पाश्चात्य दर्शन का आरम्भ सर्वसम्मति से यूनान मे हुआ, उसी प्रकार 'फिलासफी' शब्द यूनानी भाषा से लिया गया है। यूनानी शब्द Philo-sophia का अर्थ है ज्ञान (Sophia = wisdom) का प्रेम (Philo = love)। ज्ञान का तात्पर्य बुद्धिकृत मीमामा से है। तत्सम्बन्धी रुचि ही Philosophy है। इसके विपरीत भारतीय शब्द है 'दर्शन', जिसका अर्थ है 'देखना' अर्थात् तत्त्व का साक्षात्कार करना। ज्ञान के जिस विवेचन मे सत्य या तत्त्व को स्वय न देखा जाय, उसे दर्शन कहना कठिन

है। वही तत्त्व सत्य है, जिसके सम्बन्ध में हम यह कह सकें कि वह हमारा साक्षात्कृत है, यह हमारे अनुभव का विषय है अर्थात् यह हमारा 'दर्शन' है। बुद्ध भगवान् अपने उपदेशों में इस बात पर बहुत जोर दिया करते थे कि मैं जिस मार्ग का शास्ता हूँ, मैंने उसे स्वयं देख लिया है। जब तक किसी उपदेष्टा या ज्ञानी की ऐसी विश्वस्त स्थिति न हो तब तक वह मानव-जीवन के लिए असंदिग्ध या महत्त्वपूर्ण तत्व का व्याख्यान नहीं कर सकता। दर्शन का सम्बन्ध जीवन के साथ अति घनिष्ठ है। जीवन में आत्मकृत अनुभव के बिना तेजस्वी दर्शन का जन्म नहीं होता। इस देश में तो जिस समय भी दर्शन की पहली ज्ञान-रश्मियाँ प्रस्फुटित हुई थीं, उसी समय यह बात जान ली गई थी कि दर्शन का अर्थ साक्षात्कार है। हमारी परिभाषा में प्राचीनतम ज्ञानियों का नाम ऋषि है। संस्कृत-भाषा में जो अद्भुत निरुक्त शास्त्र की सामर्थ्य है, उसके द्वारा 'ऋषि' शब्द 'दार्शनिक' के अभिप्राय को यथार्थ रूप से प्रकट कर देता है। यास्काचार्य ने लिखा है—

ऋषिर्दर्शनात (निरुक्त २।११)

अर्थात् ऋषि शब्द का अर्थ है द्रष्टा (देखने वाला)। शुष्क ऊहापोह करने वाला तार्किक भारतीय अर्थ में 'दार्शनिक' की पदवी का अधिकारी नहीं बनता। दार्शनिक बनने के लिए 'दर्शन' होना चाहिए, अथवा और भी पवित्र शब्दों में कहें, तो 'ऋषित्व' होना आवश्यक है। इस देश की परिपाटी के अनुसार जो व्यक्ति अपने-आपको ज्ञान का अधिकारी कहे, उसे यह कहने की सामर्थ्य पहले होनी चाहिए कि 'मैंने ऐसा देखा है।' यजुर्वेद के शब्दों में सच्चा दार्शनिक वही है जो यह कह सके—"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णंतमसः परस्तात्" अर्थात् 'मैं इस महान् पुरुष को जानता हूँ, जो आदित्य के समान भास्वर और तम से अतीत है।' 'एवं मया श्रुतं' कहने वाले के पास स्वयं अपने दर्शन का अभाव

है। जीवन तो आत्मानुभव का नाम है। दूसरे के दर्शन से अपनी तृप्ति त्रिकाल मे भी सम्भव नहीं।

हमारे साहित्य मे दर्शन के लिए प्राचीन शब्द 'आन्वीक्षिकी' प्रतीत होता है। चाणक्य के अर्थशास्त्र मे विद्याओ का वर्गीकरण करते समय आन्वीक्षिकी पद का ही प्रयोग किया है। आन्वीक्षिकी शब्द मे भो (अनु+ईक्ष) ईक्षण या देखने का भाव है। डॉ० बैटी हाइमान ने भारतीय विचार-प्रणाली की विशेषता का अध्ययन करते हुए इन परिभाषात्मक शब्दो के विषय मे ठीक ही लिखा है—

यदि हम पाश्चात्य शब्द Philosophy और उसके सस्कृत पर्याय पर विचार करे, तो दोनो का मौलिक भेद तुरन्त प्रकट हो जाता है। यूनानी शब्द Philo-sophia का शब्दार्थ है 'ज्ञान का प्रेम' अर्थात् मानव-तर्क, उसका क्षेत्र, व्यवसायात्मक निश्चय एव विशेषता की परख। इसके प्रतिकूल सस्कृत शब्द 'आन्वीक्षिकी' का तात्पर्य है पदार्थों का ईक्षण, अर्थात् सृष्टि के जितने पदार्थ हैं, उनके मार्ग से चलकर तत्त्व वस्तु की खोज या तत्व-निदिध्यासन। संसार के पदार्थ हमारे ईक्षण का विषय इसलिए बनते है कि हम इनके द्वारा तत्त्व का ध्यान कर सके, केवल पदार्थों की छानबीन या वर्गीकरण ही हमारा ध्येय नहीं।"

सच्ची जिज्ञासा के कारण जो 'कस्त्व कोऽहम्' प्रश्नो की मोमासा की जाती है, उसके अनुसार 'दर्शन' शब्द की परिभाषा का ऊपर स्पष्टीकरण किया गया है। दर्शन का मानव-जीवन पर जो परिणाम या फल होता है, उसका भी जिज्ञासा के साथ गहरा सम्बन्ध है। जिज्ञासु के लिए दर्शन बुद्धि का कौतूहल नहीं। वह कमरे के भीतर बन्द होकर कुर्सी पर बैठा हुआ अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझता। उपनिषद् मे जो यह कहा है कि यह आत्मतत्त्व केवल 'मेधा' या बहुत विद्या पढ़ने (बहुश्रुति होने) से नहीं मिलता, वह जिज्ञासु-वृत्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने के

लिए है। महाकवि जायसी ने इसी बात को सीधे-सादे शब्दों मे यों कहा है—

का भा जोग-कथनि के कथे।
निकसै घिउ न बिना दधि मथे ॥

अर्थात् योग की कथा कहने-सुनने से क्या फल है? बिना दही को मथे घी नहीं निकल सकता। इसलिए भारतीय परम्परा के अनुसार दर्शन या साक्षात्कार की विधि ऐसी ही है जैसे स्वयं दही मथकर घी निकालना। इस उक्ति से एक जीवन-क्रम का परिचय मिलता है। दूसरे शब्दो मे दर्शन का फल 'साधना' है। साधना के ही नामान्तर 'तप' या 'व्रत' या 'दीक्षा' है। इसीलिए उपनिषदों ने कहा है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

अर्थात् सत्य, तप, सात्विक ज्ञान और नित्य निर्विकार रहने से ही आत्म-तत्त्व का दर्शन हो सकता है।

ये बाते साधना की ओर सकेत करती है। जीवन मे दर्शन का फल है साधना का उदय। साधना की भावना से सात्विकी श्रद्धा का जन्म होता है। प्रश्नात्मक जिज्ञासा को अश्रद्धा या श्रद्धा का अभाव नहीं समझना चाहिए। जिज्ञासा का अभाव अश्रद्धा है। जिज्ञास्य विषय को अपने अध्यवसाय की क्षमता से अनुभव का विषय बना सकना यही श्रद्धा का लक्षण है। आत्म-विश्वास ही श्रद्धा है। जिज्ञासु को अपनी दृढ़ता मे विश्वास होता है। यही उसका पाथेय है।

अपने मे अविश्वास का होना यह अश्रद्धा का रूप है। प्रश्नो का उत्पन्न न होना तो तम या मूर्च्छा है। सन्देह या प्रश्नो को परास्त करने की शक्ति ही जिज्ञासु की श्रद्धा कहलाती है। जिज्ञासा उत्पन्न हो जाने पर यदि जीवन के क्रम मे परिवर्तन नहीं होता,

तो मानो जिज्ञासु 'दर्शन' या साक्षात्कार के साथ अपना सीधा सम्बन्ध जोड़ने से बचना चाहता है। इस दृष्टि से दार्शनिक का जीवन एकान्तत नैतिक बन जाता है।

दार्शनिक कैंट ने एक स्थान पर कहा है—

"नीतिमय जीवन का प्रारम्भ होने के लिए विचार-क्रम मे परिवर्तन तथा आचार का ग्रहण आवश्यक है।"

भारतीय परिभाषा मे इस प्रकार के जीवन-क्रम की सज्ञा तप है। इसीलिए तो यहाॅ का प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय जीवन की एक-न-एक साधना की शिक्षा देता है। ज्ञान, कर्म, उपासना अथवा वेदान्त-साख्य-योग सबके साथ एक जीवन-मार्ग का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी कारण भारतवर्ष मे जीवन से विरहित कोई दर्शन नहीं पनप सका। जिस दर्शन का जीवन के साथ सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध था, वही विचार यहाॅ सबसे अधिक फूला-फला।

• ९ •

व्यक्तित्व

(श्री माखनलाल चतुर्वेदी)

शासन की विधि पूरी करना एक बात है, शासन की कला का ज्ञान होना और बात।

कला के ज्ञाता मे व्यक्तित्व (पर्सनैलिटी) होता है, विधि को पूरा करने वाला इसकी ओर बहुत कम लक्ष्य देता है। कला कुछ व्यक्तियो का ही नहीं, कुछ जातियो तक का स्वभाव हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति मे जीवन के कम-से-कम दो हिस्से रहते है—एक तो उसका कार्य, जिसकी जिम्मेदारी वह कुली की तरह निबाहने के लिए बाध्य है, और दूसरे उसका अपना व्यक्तित्व, जो उसके एक या अनेक कार्यों मे चमक बढाता है।

दूसरे रूप मे मनुष्य दो स्वरूपो मे विश्व के सामने खडा है—एक तो उसका व्यक्तित्व, जिसके कार्यो और जिसकी जिम्मेदारिया का वह अपना कहकर विश्व के सन्मुख अपने को, खुला-उघाड़ा बे-पर्द छोडने को बाध्य होता है, और दूसरे वह व्यक्ति खुद, जो केले के भीतरी स्तम्भ की तरह, व्यक्तित्व के एक या अनेक पर्दों की तह मे उज्ज्वल या निरुज्वल बनकर छिपा रहता है। व्यक्तित्व कहते है उस वस्तु को जा मनुष्य के बाहरी और भीतरी जीवन मे सम्बन्ध स्थापित रखती और उन दोनो विभाजित जीवन के हिस्सो को एक-दूसरे का जीवन-रस पान करने का अवसर

देती है। व्यक्तित्व बाहर अपने-आप प्रकट होता है, और भीतर श्रमपूर्ण जीवन को 'सगठित' किया करता है। व्यक्तित्व के योग्य दर्शन उस व्यक्ति के पास हो सकेंगे जो अपने अन्तरतम से बहुत दूरी पर खड़ा नहीं होता, न जो अपने अन्तरतम की उपेक्षा करता है, न जो अपने अन्तरतम का अपनी क्रूरता पूरी करने के लिए सौदा करता है।

व्यक्तितत्व बहुत शीघ्र पकडा जा सकता है। अकड और आडम्बर का नाम व्यक्तितत्व नहीं है। व्यक्तितत्व की आँखे हमे न्यौता देकर बुलाती है, उसमे हमे बे-इख्तियार प्रेम और विश्वास भी होने लगता है। जिसमे व्यक्तितत्व का अभाव होगा, उसकी ओर हमारी तवज्जोह ही नहीं होगी, और अपनी ओर हमारा ध्यान खींचने के लिए प्रचार या षड्यन्त्र किसी ने किया हो, तो हमारा विश्वास उसमे न होगा। व्यक्तितत्व को और खेल कम भाता है, वह प्राणो का खेल खेलकर ही जिन्दा रहता है।

व्यक्तितत्व के अभाव मे व्यक्ति अपने-आपको जगत् का महा-प्रमुख बनाए रखने के लिए कितने ही उद्योग करता है—उसमे शील के नाम पर तकल्लुफ होना है, उसकी चर्चा मे और को अपने से छोटा बताने का अप्रत्यक्ष प्रचार होता है, और लोगो का जी दुखाने के छिपे ताने होते है। वह दलालो के दलाल की हैसियत से विश्व के बाजार मे बडा आदमी बनकर रहना चाहता है, परन्तु षोडषोपचार भक्ति के अभाव मे जिस तरह भगवान् को खींचने मे समर्थ नही हो सकते, उसी तरह बाहरी समय साधक आभूषणो और उपकरणो के बल पर व्यक्तितत्व का नारा ही बुलन्द किया जा सकता है, उसकी प्राप्ति नही की जा सकती।

व्यक्तितत्व के अभाव मे, हम हृदय के रूखेपन और कोमल सम्बन्धो मे उद्दण्डता के रूप मे परिचित होते है, ऐसे व्यक्ति के भावो मे अतिरेकमय चचलता होती है, ऐसे व्यक्ति के मन का

यद्यपि पता नहीं लग पाता परन्तु यह जानकर कि हृदय की जागीर उसके पास थोडी है, हम प्रारम्भ ही से उसके मनोभावों से बचने और उसके तकल्लुफ, व्यावहारिकता और प्रचार के सँकरे जाल से मुक्त रहने की सावधानी लेते है। ये सब कठिनाइयाँ, ये स्वभाव की खराबियाँ हममे तभी जन्म लेती या फूलती-फलती है, जब हम बाहरी जीवन को भीतरी जीवन के प्रति उत्तरदायी न मानकर अपनी दुनिया बनाने बैठते है। परिणाम यह होता है कि विश्व मे कोई भी अपना हमारा नहीं होता और हम जिस-जिस क्षेत्र से गुजरे होते है, यद्यपि तकल्लुफ और व्यावहारिकता के नाम से उन सब स्थानो की निन्दा न करने और व्यक्ति न तोडने का तौल सँभालते रहते है, किन्तु हम पर कोई विश्वास नहीं करता और प्राय व्यक्ति टूट जाते है। क्योकि एक तो मीठे शब्दो और चतुराई से अपनी महानता साबित करने के सिवा कभी कुछ हमारे पास नहीं होता, दूसरे हम कोमल-से-कोमल भावो का सौदा करने लगते है, और तीसरे हम आत्म-निवेदन (कन्फैशन) पर विश्वास न करके अपने हृदय का समस्त मल छिपाये रहते है, जो हमे भीतर-ही-भीतर विश्व की सेवा और उपयोगिता से रहित करता जाता है। हमारे जीवन की कोमलता, सेवा और दोषों समेत खुलेपन का अभाव ही हमारे व्यक्तित्व का अभाव है। व्यक्तित्व वह नहीं जिसका लोगो पर आतक छाये, व्यक्तित्व वह है जिसकी तसवीर जमाना अपने-आप मे खोदता चला जाय।

इसी व्यक्तित्व की जरूरत हमे जीवन के शासन आदि अनेक क्षेत्रो मे होती है। उस समय व्यक्तित्व की रक्षा के लिए हमें अपनी लहरो, अपने मनोवेगों, अपनी तौल सँभालने के नाम पर तौल बिगाड़ने वाली भीतरी आदतों पर पहरा देने की जरूरत होती है, इसलिए कि जिससे भीतरी और बाहरी विश्व के बीच हम बे-मेल न हो बैठे। ये दोष भी हृदय की स्वच्छता मे झरने

की तरह अपने-आप बहने वाले शुद्ध व्यक्तित्व को बरबाद न कर सकेंगे, हॉ इनसे जीवन के झरने की गति को हम कुछ दिनो गदला और सड़ा हुआ अवश्य कर देंगे और समय के साथ आने वाली नई धाराएँ इस गन्दगी को अवश्य धो बहाएँगी। यदि हम स्वय उस गन्दगी को अधिक दिनो रोके रहने का यत्न करें, तो भी खुले हृदय मे हम उसी तरह नुकसान उठाने के लिए बे-काबू है। हम सन्निकट स्वार्थ की पूर्ति के लिए ही हृदय का दिवाला काढ़ते है, और इस प्रयत्न मे हम अपनी और अपनी सन्निकट स्वार्थ की कब्र बनाते है।

शासन मे हम 'जानकार मन' का मूल्य कूतकर, उसको बलवान् मानकर, उसी को व्यक्तित्व मानकर गर्व करने लगते हैं। परन्तु विश्व मे व्यक्तित्व ही जानकारो के कुम्भीपाक बने हुए है। शासन मे व्यक्तित्व, शुद्ध व्यक्तित्व से ही सफल होता है। श्रम, सेवा, स्नेह और आकर्षण विश्व जीतने के ये गुण—खुले हृदय के व्यक्तित्व मे ये सब होते है, सूचनाओं की सग्रहीत पिटारी मे नहीं। व्यक्तित्व है, तो यह सब सग्रह खजाना है, व्यक्तित्व के अभाव मे यह सारा मिट्टी-पत्थरो का ढेर है। सूचनाएँ पैसे से खरीदी जा सकती है, किन्तु हृदय यानी व्यक्तित्व पैसे से नहीं खरीदा जा सकता। हॉ, व्यक्तित्व भी व्यक्तित्व के हृदयो के सघर्षण से बढ़ता है।

अच्छी आदतो से व्यक्तित्व बनता है, ठीक है। किन्तु उन्हीं अच्छी आदतो से बाहरी और भीतरी जीवन के मेल मिलाये रहे, यही मेल मनुष्य के जीवन मे आकर्षण, प्रकाश और विश्वास पैदा करता है। हृदय की सरसता अपने संचित ज्ञान और श्रम को लेकर जब विश्व बनाने बैठती है, तब वह व्यक्तित्व का निर्माण करती जाती है और व्यक्तित्व पर मरकर अमर हो जाने वाली दुनिया का भी।

• १० •

मनुष्यत्व क्या है ?

(बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय)

मनुष्य इस बात को अभी तक नहीं समझ सका कि मनुष्य-जन्म लेकर क्या करना होगा ? अनेक लोग ऐसे हैं जो जगत् में धर्मात्मा कहकर अपना परिचय देते है। वे मुख से कहा करते है कि परलोक के लिए पुण्य-संचय ही मनुष्य के इस जन्म का उद्देश्य है। किन्तु अधिकांश लोग, चाहे मुँह से भले ही यह बात कहते हो, पर उनके कार्य इसके अनुसार नहीं होते। बहुत लोग तो परलोक के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, यद्यपि परलोक का विषय सर्ववादिसम्मत ही है। इस बात को सब लोग स्वीकार करते हैं कि परलोक के लिए पुण्य-संचय ही इस जन्म का उद्देश्य है, तथापि इस विषय मे विशेष मतभेद है कि पुण्य क्या है ? केवल बंगदेश मे ही एक सम्प्रदाय के मत से मद्य-पान से परलोक बिगडता है, और दूसरे सम्प्रदाय के मत से मद्य-पान परलोक के वास्ते परम कार्य है। तथापि दोनो सम्प्रदायो के लोग बंगाली और हिन्दू हैं। यदि सचमुच परलोक के लिए पुण्य-संचय ही मनुष्य-जन्म का प्रधान कार्य मान लिया जाय तो अभी तक इस बात का कुछ निश्चय ही नहीं हुआ कि वह पुण्य क्या है और किस प्रकार उसका उपार्जन किया जाता है।

अच्छा मान लो, यह भी निश्चित हो गया है। मान लो,

ब्राह्मण-भक्ति, गंगा स्नान, तुलसी की माला और हरिनाम-कीर्तन इत्यादि पुण्य-कार्य है । ये ही मनुष्य-जीवन के उद्देश्य है। अथवा मान लो कि रविवार को काम न करना, गिरजे मे बैठकर आँखे मूँदना और खीष्ट धर्म के सिवा दूसरे धर्म से विद्वेष ही पुण्य-कर्म है । इनको भी जाने दो । दान, दया, सत्य-निष्ठा आदि को सभी लोग पुण्य-कार्य मानते है। किन्तु तथापि यह नहीं दीख पडता कि दान, दया, सत्य-निष्ठा आदि को अधिक लोग अपने जीवन का उद्देश्य समझने का अभ्यास रखते हो और उन्हे सिद्ध करते हो। अतएव इस बात को सभी लोग स्वीकार नहीं करते कि पुण्य ही जीवन का उद्देश्य है । जहाँ यह बात सर्वस्वीकृत है वहाँ वह विश्वास केवल जबानी जमा-खर्च-भर है ।

वास्तव मे अगर देखा जाय तो जीवन के उद्देश्य के तत्त्व की मीमासा को लेकर मनुष्य-लोक मे इस समय भी बडी गडबड मची हुई है। लाखो वर्ष पहले, अनन्त समुद्र के गहरे जल के भीतर जो अणुवीक्षण से दीख पडने वाले जीव रहते थे उनके देह-तत्त्व को लेकर तो मनुष्य विशेष व्यस्त दीख पडते है, परन्तु इस बात के निर्णय की विशेष चेष्टा नही दीख पड़ती कि इस ससार मे उन्हे खुद क्या करना चाहिए। बहुत लोग किसी तरह अपना पेट पालकर, अन्यान्य बाह्य इन्द्रियो को चरितार्थ करके आत्मीय स्वजनो का भी पेट पाल सकने को ही मनुष्य-जन्म की सफलता समझते है । इसके सिवा किसी तरह औरो पर प्रधानता प्राप्त करना भी एक उद्देश्य दीख पडता है। पेट-पालन के उपरान्त, धन से हो या किसी अन्य प्रकार से हो, लोगो मे यथासाध्य प्रधानता प्राप्त करने को अपने जीवन का उद्देश्य समझकर लोग काम करते है । लोगो की समझ मे यह प्रधानता प्राप्त करने का उपाय धन, राज-पद और यश की प्राप्ति ही है। अतएव, मुख से चाहे कोई न कहे, किन्तु कार्य द्वारा धन, पद और यश की प्राप्ति ही

मनुष्य-जीवन का सर्ववादिसम्मत उद्देश्य जान पडता है। इन्हीं तीनों के समवाय को समाज मे सम्पत्ति कहते हैं। तीनो बातो का एकत्र होना दुर्लभ है, इसलिए दो-एक—खासकर धन—होने से भी उसे सम्पत्ति मान लेते है। इस सम्पत्ति की आकाक्षा ही समाज में जीवन का मुख्य उद्देश्य समझी जाती है और यही समाज के घोरतर अनिष्ट का कारण भी है। समाज की उन्नति की गति धीमी होने का प्रधान कारण यही है कि धीरे-धीरे बाह्य सम्पत्ति ही मनुष्य-जीवन का प्रधान उद्देश्य बनती जाती है। केवल साधारण मनुष्यो के खयाल मे नहीं, यूरोप के प्रधान पण्डितो और राज-पुरुषो के खयाल मे भी यह बाह्य सम्पत्ति ही मनुष्य-जीवन का प्रधान उद्देश्य है।

शायद ही कभी-कभी बीच मे ऐसा कोई संसार मे उत्पन्न हो जाता है कि वह बाह्य सम्पत्ति को मनुष्य-जीवन का उद्देश्य समझना कैसा, उसे जीवन के उद्देश्य की सिद्धि का प्रधान विघ्न समझकर दल से अलग हो जाता है। जिस राज्य-सम्पत्ति को अन्य लोग जीवन की सफलता की सामग्री समझते हैं उसीको विघ्न समझ-कर शाक्यसिंह ने लात मार दी। भारत और यूरोप मे भी ऐसे मुनिवृत्तिधारी अनेक महापुरुष उत्पन्न हुए है जिन्होंने बाह्य सम्पत्ति से इतनी घृणा दिखाई है। किन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि इन्होने ही असली और यथार्थ मार्ग का अवलम्बन किया। शाक्यसिंह ने यह शिक्षा दी कि इस लोक मे व्यापारों मे मन लगाना ही अनिष्ट का कारण है—मनुष्य सर्वत्यागी होकर निर्वाण की कामना करे। भारत मे इस शिक्षा का फल विषमय हुआ है। मनुष्य-जीवन के उद्देश्य के सम्बन्ध मे इस प्रकार भी अनेक मुनिवृत्ति के महापुरुषो की भ्रान्त धारणा होने के कारण वे ऐहिक सम्पत्ति के प्रति विरक्त होकर भी समाज का इष्ट करने मे विशेष कृतकार्य नहीं हो सके। साधारणत सन्यासी आदि सर्वदेशीय वैरागी सम्प्रदाय को

उदाहरण के तौर पर निर्दिष्ट करने से यह बात अच्छी तरह प्रमाणित हो जायगी। कहने का तात्पर्य यह है कि धन-सचय आदि की तरह सुख-शून्य, शुभफल-शून्य, महत्त्व-शून्य कार्य प्रयोजनीय होने पर भी कभी मनुष्य जीवन का उद्देश्य कहकर स्वीकृत नहीं हो सकते। यह जन्म भविष्य के पारलौकिक जीवन के लिए परीक्षा-मात्र है। पृथ्वी-तल स्वर्ग-लाभ के लिए कर्म-भूमि-मात्र है। यह बात यदि यथार्थ हो तो परलोक मे सुख देने वाले कार्य का अनुष्ठान ही जीवन का उद्देश्य होना उचित है। किन्तु पहले तो वैसे कार्य कौन है, इसी विषय मे मतभेद है—निश्चय करने का बिलकुल कोई उपाय नहीं है और दूसरे परलोक के अस्तित्व का ही कोई प्रमाण नहीं है।

तीसरे, परलोक के रहने पर भी—यह पृथिवी परीक्षा-भूमि-मात्र होने पर भी—ऐहिक और पारलौकिक भलाई मे विभिन्नता होने का कोई कारण नहीं दीख पडता। यदि परलोक है तो जिस व्यवहार से परलोक मे भलाई होने की सम्भावना है उसी कार्य से इस लोक मे भी भलाई होने की सम्भावना है। इस लोक मे उसी से भलाई होने की सम्भावना न होने का कारण अब तक कोई बतला नही सका। धर्म का आचरण यदि मगल का कारण हो तो यह बात किस तरह प्रमाणित होती है कि वह केवल परलोक मे ही मगलप्रद है, इस लोक मे नहीं। ईश्वर स्वर्ग मे बैठकर काजी की तरह विचार करते है—पापी को नरक-कुण्ड मे डालते है और पुण्यात्मा को स्वर्ग मे भेजते है। इन प्राचीन मनोरंजक दन्तकथाओ को प्रमाण नहीं माना जा सकता। जो लोग कहते है कि इस लोक मे अधार्मिक की भलाई और धर्मात्मा की बुराई होती देखी जाती है, उनकी दृष्टि मे केवल धन-सम्पत्ति आदि ही शुभ या भलाई है। उनका विचार इस मूल मे ही होने वाली भ्रान्ति से दूषित है। यदि पुण्य-कर्म परलोक मे शुभप्रद है तो वह इस लोक मे भी शुभ-

प्रद होगा। किन्तु वास्तव मे केवल पुण्य-कर्म, क्या इस लोक मे और क्या परलोक मे, शुभप्रद नहीं हो सकता। जिस प्रकार की मनोवृत्ति का फल पुण्य कर्म है उसी का दोनो लोकों मे शुभप्रद होना सम्भव है। कोई यदि केवल मजिस्ट्रेट साहब की प्रेरणा के वशीभूत होकर, या यश की लालसा से, अप्रसन्न चित्त से दुर्भिक्ष-निवारण के लिए लाखो रुपये देता है तो वह उससे परलोक के लिए पुण्य-सचय कैसे कर सकता है ? दान पुण्य कर्म अवश्य है, किन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि ऐसे दान से परलोक का कुछ उपकार होगा। किन्तु जो अर्थाभाव के कारण दान नहीं कर सका, किन्तु दान न कर सकने के कारण खिन्न है उसका इस लोक मे और परलोक अगर हो तो वहाँ भी सुखी होना सम्भव है।

अतएव मनोवृत्तियो के जिस अवस्था मे परिणत होने से पुण्य-कर्म उसके फल के रूप मे आप ही निष्पन्न होता है, अगर हो तो वही परलोक मे भी शुभप्रद है। यह बात मानी जा सकती है। परलोक हो चाहे न हो, इस लोक मे वही मनुष्य जीवन का उद्देश्य है। किन्तु केवल वह अवस्था ही मनुष्य जीवन का उद्देश्य नहीं हो सकती। जैसे कुछ मानसिक वृत्तियो की चेष्टा कर्म है और जैसे उन वृत्तियो के अच्छी तरह परिमार्जित और उन्नत होने से स्वभावत शुभ कर्म के करने की प्रवृत्ति होती है वैसे ही और भी कुछ वृत्तियाँ है। उनका उद्देश्य किसी तरह का कार्य नहीं है—ज्ञान ही उनकी क्रिया है। कार्यकारिणी वृत्तियो का अनुशीलन जैसे मनुष्य-जीवन का उद्देश्य है वैसे ही ज्ञानोपार्जन की वृत्तियो का अनुशीलन भी जीवन का उद्देश्य होना उचित है। वास्तव मे अगर देखा जाय तो दीख पड़ेगा कि सब प्रकार की मानसिक वृत्तियो का सम्यक् अनुशीलन, सम्पूर्ण स्फूर्ति, यथोचित उन्नति और विशुद्धि ही मनुष्य-जीवन का उद्देश्य है।

यह बात नहीं है कि ऐसे मनुष्यो ने जगत् मे जन्म ही न लिया

हो जिन्होंने केवल इसी उद्देश्य का अवलम्बन करके, सम्पत्ति आदि को उपयुक्त घृणा दिखाकर अपना जीवन बिताया हो ऐसे लोगों की सख्या बहुत कम होने पर भी उनके जीवन-चरित्र मनुष्यों को अमूल्य शिक्षा दे सकते हैं। जीवन के उद्देश्य के सम्बन्ध मे ऐसी शिक्षा और किसी तरह नहीं मिल सकती। नीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, विज्ञान, दर्शन आदि सबकी अपेक्षा यही प्रधान शिक्षा है। दुर्भाग्यवश ऐसे लोगों के जीवन के गूढ़ तत्त्व अपरिज्ञेय है। केवल दो आदमी स्वत अपना जीवन-चरित्र लिखकर रख गए है—एक गेटे और दूसरे जॉन स्टुअर्ट मिल।

• ११ •

कर्तव्य क्या है ?

(स्वामी विवेकानन्द)

कर्मयोग का तत्त्व समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि कर्तव्य क्या है। यदि मुझे कोई काम करना है तो पहले मुझे यह समझ लेना चाहिए कि यह मेरा कर्तव्य है और तभी मैं उसे कर सकता हूँ। भिन्न-भिन्न जातियों में कर्तव्य के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न धारणाएँ है। एक मुसलमान कहता है कि जो कुछ कुरान शरीफ मे लिखा है वही उसका कर्तव्य है, इसी प्रकार हिन्दू की दृष्टि में जो कुछ उसके वेदो मे लिखा है वह उसका कर्तव्य है तथा एक ईसाई की दृष्टि मे जो-कुछ उसकी बाइबिल मे लिखा है। हम देखते हैं कि जीवन की अवस्था, काल तथा जातियो की विभिन्नता के अनुसार कर्तव्य के सम्बन्ध मे भी विभिन्न धारणाएँ होती हैं। अन्यान्य सार्वभौमिक भावसूचक शब्दो की तरह कर्तव्य शब्द की ठीक-ठीक व्याख्या करना भी कठिन है। कर्म-जीवन मे उसकी परिणति तथा उसके फलाफलो द्वारा हमे उसके सम्बन्ध मे कुछ धारणा हो सकती है।

जब हमारे सामने कुछ बाते घटती है तो हममे उनके बारे में एक विशेष रूप से कार्य करने की स्वाभाविक अथवा पूर्व-संस्कारानुयायी प्रवृत्ति होती है, और जब यह प्रवृत्ति होती है तो मन उस घटना के सम्बन्ध मे सोचने लगता है। कभी तो वह यह

सोचता है कि इस विशेष अवस्था मे इस विशेष भाव से ही कार्य करना उचित है, परन्तु किसी अन्य समय उसे यह लगता है कि उसी अवस्था मे वैसे ही भाव से कार्य करना अनुचित है। कर्तव्य के सम्बन्ध मे बहुधा यही धारणा होती है कि सच्चरित्र मनुष्य अपनी सत्-असत् बुद्धि की प्रेरणा के अनुसार ही कर्म करता रहता है। परन्तु वह क्या है जिससे एक कर्म कर्तव्य हो जाता है? जीवन-मरण की समस्या के समय यदि एक ईसाई के सामने एक गोमास का टुकड़ा है और वह अपनी प्राण-रक्षा के लिए उसको नहीं खा लेता अथवा किसी दूसरे मनुष्य के प्राण बचाने के लिए उसे नहीं दे देता तो उसे निश्चय ही यह अनुभव होगा कि उसने अपना कर्तव्य नहीं किया। परन्तु इसी अवस्था मे यदि एक हिन्दू स्वय वह गोमास का टुकडा खा ले अथवा किसी दूसरे हिन्दू को दे दे तो निश्चय हो उसे भी उतने ही अश मे यह अनुभव होगा कि उसने भी अपना कर्तव्य नहीं किया। हिन्दू जाति की शिक्षा तथा सस्कार ही ऐसे है जिनके कारण वह ऐसा सोचता है।

पिछली शताब्दी मे भारतवर्ष मे डाकुओ का एक मशहूर दल था जिन्हे ठग कहते थे। वे किसी मनुष्य को मार डालना तथा उसका धन छीन लेना अपना कर्तव्य समझते थे। वे जितने अधिक मनुष्यों को मारते थे उतना ही अपने को श्रेष्ठ समझते थे। साधारणतया यदि एक मनुष्य सडक पर जाकर किसी दूसरे मनुष्य को मार डालता है तो निश्चय ही उसे यह सोचकर दु ख होगा कि कर्तव्य भ्रष्ट होकर उसने अनुचित कार्य कर डाला है। परन्तु यदि वही मनुष्य एक फौज मे सिपाही की हैसियत से एक नहीं बल्कि बीसियो आदमियो को भी मारे तो निश्चय ही उसे यह सोचकर प्रसन्नता होगी कि उसने अपना कर्तव्य बहुत सुन्दरता से निबाहा। इस प्रकार हमे यह स्पष्ट होता है कि केवल किसी कार्य-विशेष का विचार करने से ही हमारा कर्तव्य निर्धारित नहीं होता।

अतएव केवल बाह्य कार्यों के आधार पर कर्तव्य की व्याख्या करना नितान्त असम्भव है। अमुक कार्य कर्तव्य है तथा अमुक अकर्तव्य—कर्तव्याकर्तव्य का इस प्रकार विभाग-निर्देश नहीं किया जा सकता। परन्तु फिर भी कर्तव्य की व्याख्या आन्तरिक दृष्टि-कोण (Inner Lookout) से हो सकती है। यदि किसी कर्म द्वारा हम ईश्वर की ओर बढ सकते हैं तो वह सत् कर्म है और वह हमारा कर्तव्य है, परन्तु जिस कर्म द्वारा हम नीचे गिरते हैं वह बुरा है तथा वह हमारा कर्तव्य नहीं है। आन्तरिक दृष्टिकोण से देखने पर हमे यह प्रतीत होता है कि कुछ कार्य ऐसे होते है जो हमे उन्नत बनाते है, परन्तु दूसरे ऐसे होते है जो हमे नीचे ले जाते हैं तथा पशुवत् बनाते है। परन्तु निश्चित रूप से यह जान लेना सरल नहीं है कि कौनसे कार्य सब प्रकार के मनुष्यो के प्रति सब दशाओ मे कैसे भाव उत्पन्न करेंगे। कर्तव्य का वह भाव, जो समस्त देश, सम्प्रदाय तथा काल मे समस्त मनुष्य जाति द्वारा सर्वदा मान्य रहा है, केवल एक ही है और वह इस प्रकार वर्णित है—'परोपकार पुण्याय पापाय परपीडनम्' अर्थात् परोपकार से पुण्य होता है तथा दूसरो को दु ख पहुँचाना ही पाप है।

श्रीमद्भगवद्गीता मे जन्मगत तथा अवस्थागत कर्तव्यो का बारम्बार वर्णन है। हमने जिस समाज मे जन्म लिया है तथा जीवन मे हमारा जो स्थान है उसी पर अधिकाशत यह निर्भर रहता है कि हम जीवन के विभिन्न कर्तव्यो की ओर किस दृष्टिकोण से देखते है। इसीलिए हमारी सामाजिक अवस्था के अनुरूप एव हृदय तथा मन को उन्नत बनाने वाले कार्यों का करना ही हमारा कर्तव्य है। परन्तु यह विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए कि एक ही प्रकार के आदर्श तथा कार्य-प्रणाली प्रत्येक देश तथा समाज मे नहीं पाई जाती और इस विषय मे हमारी अज्ञता ही एक-दूसरे के प्रति घृणा का मुख्य कारण है। एक अमरीका-निवासी यह

समझता है कि उसके देश की रस्मे ही सर्वोत्कृष्ट है, अतएव जो कोई उसकी रस्मो के अनुसार बर्ताव नहीं करता वह दुष्ट है। इसी प्रकार एक हिन्दू सोचता है कि उसी के रस्म-रिवाज ससार-भर में ठीक तथा सर्वोत्तम है और जो उनका पालन नहीं करता वह महा दुष्ट पुरुष है। असल मे यह हमारी एक बहुत स्वाभाविक भूल है, परन्तु यह बहुत अहितकर है, ससार मे परस्पर-सहानुभूति के अभाव तथा पारस्परिक घृणा का यही मुख्य कारण है। मुझे स्मरण है कि जब मैं इस देश मे आया और शिकागो-सम्मेलन के बीच से जा रहा था तो किसी आदमी ने पीछे से मेरा साफा खींच लिया। मैंने पीछे घूमकर देखा तो अच्छे कपड़े पहने हुए एक सज्जन दिखाई दिए। मैंने उनसे बातचीत की और जब उन्हे यह मालूम हुआ कि मैं अंग्रेजी भी जानता हूँ तो वह बहुत शर-मिन्दा हुए। इसी प्रकार उसी सम्मेलन में एक दूसरे अवसर पर एक मनुष्य ने मुझे धक्का दे दिया, पीछे घूमकर जब मैंने उससे कारण पूछा तो वह भी बहुत लज्जित हुआ और हकलाते हुए यह कहकर मुझसे माफी मॉगने लगा कि 'आप ऐसी पोशाक क्यो पहनते है?' स्पष्ट है कि इन लोगो की सहानुभूति अपनी ही भाषा तथा अपनी ही वेश-भूषा तक सीमित थी। सम्भव है वह मनुष्य, जिसने मुझसे मेरी पोशाक के बारे में पूछा था तथा जो मेरे साथ मेरी पोशाक के कारण ही दुर्व्यवहार करना चाहता था, एक भला आदमी रहा हो, एक सन्तान-वत्सल पिता तथा एक सभ्य नागरिक हो, परन्तु उसकी स्वाभाविक सहृदयता का अन्त बस उसी समय हो गया जब उसने मुझ जैसे एक व्यक्ति को दूसरे वेश मे देखा। अजनबी लोगो पर दूसरे देशों मे अत्याचार होते ही हैं, क्योकि वे यह नहीं जानते कि नवीन परदेश मे अपने को कैसे बचाना चाहिए और इस प्रकार वे उन देशो के प्रति अपने देश मे बुरी भावनाएँ साथ ले जाते हैं। मल्लाह, सिपाही, व्यापारी सभी दूसरे

देशों मे बडा विचित्र व्यवहार करते है, यद्यपि यह सत्य है कि अपने देश मे उस प्रकार का व्यवहार करना वे स्वप्न मे भी नहीं सोचेगे, और शायद यह कारण है जिससे कि चीन-निवासी समस्त यूरोपियन तथा अमरीकन लोगो को 'विदेशी भूत' कहते है। परन्तु यदि उन्हे पश्चिमी देश की सज्जनता तथा उसकी नम्रता का अनुभव हुआ होता तो वे शायद ऐसा न कहते।

अतएव हमे एक बात, जो विशेष रूप से ध्यान मे रखनी चाहिए, वह यह है कि हम दूसरे के कर्तव्यो को उसी की दृष्टि से देखे न कि यह कि हम दूसरो के रीति-रिवाज को अपने रीति-रिवाज के मापदण्ड से जॉचे। यह हमे विशेष रूप से जान लेना चाहिए कि समस्त ससार हमारी धारणा के अनुसार नहीं चल सकता, वरन् हमे ही ससार के साथ मिल-जुलकर चलना होगा, सारा ससार कभी भी हमारे भाव के अनुकूल नहीं चल सकता। इस प्रकार हम देखते है कि देश, काल एव पात्र के अनुसार हमारे कतव्य भी कैसे बदल जाते है और सबसे उत्तम बात तो यह है कि जिस विशिष्ट समय पर हमारा जो कर्तव्य हो उसी को हम भली भॉति निबाहे। पहले तो हमें जन्म-प्राप्त कर्तव्य करना चाहिए और उसे कर चुकने के बाद वह करना चाहिए जो हमारे 'पद' के अनुसार हो।

यहॉ एक बात विचारणीय है और वह यह कि मानव-स्वभाव में एक दोष यह है कि वह स्वय अपनी जॉच कभी नहीं करता। मनुष्य तो यह सोचता है कि वह राजा के सिंहासन पर भी बैठने के योग्य है और यदि मान लिया जाय कि वह है भी, तो सबसे पहले उसे यह दिखा देना चाहिए कि वह अपने पद का कर्तव्य भली भॉति कर चुका है और तब उसके सामने उच्चतर कर्तव्य आएँगें। जब ससार में हम लगन से काम शुरू करते हैं तो प्रकृति हमें चारो ओर से धक्के देती है और शीघ्र ही हमे इस योग्य बना देती है कि हम अपना वास्तविक पद निर्धारित कर सके। कोई

मनुष्य उस पद पर बहुत दिनो तक नही टिक सकता जिसके योग्य वह नहीं है। अतएव प्रकृति हमारे लिए जिस कर्तव्य का विधान करती है उसका विरोध करना व्यर्थ है। यदि कोई मनुष्य छोटा कार्य करता है तो वह छोटा नहीं कहा जा सकता। केवल कर्तव्य के स्वरूप से ही मनुष्य की उच्चता या नीचता का निर्णय करना उचित नहीं, देखना तो यह चाहिए कि वह अपना कर्तव्य किस भाव से करता है।

बाद मे हम देखते है कि यह कर्तव्य की धारणा भी परिवर्तित हो जाती है तथा हम यह भी देखते है कि सबसे श्रेष्ठ कार्य उसी समय होता है जब उसके पीछे किसी प्रकार के स्वार्थ की प्रेरणा न हो। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि कर्तव्य-ज्ञान से किया हुआ कर्म ही हमे कर्तव्य-ज्ञानातीत कर्म की ओर ले जाता है—तब कर्म उपासना रूप मे परिणत हो जाता है, इतना ही नहीं वरन् उस समय कर्म का अनुष्ठान केवल कर्म के लिए ही होता है। फिर हमे प्रतीत होगा कि कर्तव्य, चाहे वह नीति पर अधिष्ठित हो अथवा प्रेम पर, उसका उद्देश्य वही है जो अन्य किसी योग का, अर्थात 'कच्चे मैं' क्रमश घटाते-घटाते बिलकुल नष्ट कर देना जिससे अन्त मे 'पक्के मैं' अपनी असली महिमा मे प्रकाशित हो जाय तथा अपनी शक्तियों का निम्न स्तर मे क्षय होने से रोकना, जिससे आत्मा अधिकाधिक उच्च भूमि मे प्रकाशमान हो सके। नीच वासनाओ के उदय होने पर भी यदि हम उन्हे अमल मे लाने से अपने को रोक लेते हैं तो उसी से हमारी आत्मा की महिमा का विकास होता है। कर्तव्य-पालन मे इस स्वार्थ त्याग की आवश्यकता अनिवार्य है, इस प्रकार ज्ञान अथवा अज्ञानवश सारी समाज सस्था सगठित हुई है, और वह मानो एक कार्य-क्षेत्र बन गई है जो सत्-असत् की परीक्षा-भूमि है। इस कार्य-क्षेत्र मे स्वार्थपूर्ण वासनाओ को धीरे-धीरे कम

करते हुए हम मनुष्य के प्रकृत स्वरूप के अनन्त विकास का पथ खोल देते हैं।

कर्तव्य का पालन शायद ही कभी मधुर होता हो। कर्तव्य-चक्र तभी हल्का तथा आसानी से चलता है जब उसके पहियो में प्रेम रूपी चिकनाई लगी होती है, वरना यह निरन्तर एक घर्षण सा ही रहता है। और यदि ऐसा न हो तो माता-पिता अपने बच्चों के प्रति, बच्चे अपने माता-पिता के प्रति, पति अपनी स्त्री के प्रति तथा स्त्री अपने पति के प्रति, अपना-अपना कर्तव्य कैसे कर सके? क्या इस घर्षण के उदाहरण हमे अपने दैनिक जीवन मे सदैव नहीं दिखाई देते? कर्तव्य-पालन की मधुरता प्रेम मे और प्रेम का विकास केवल स्वतन्त्रता मे ही होता है। परन्तु सोचो तो सही, क्या इन्द्रियो का, क्रोध का, ईर्ष्या तथा मनुष्य के जीवन मे होने वाली अन्य सैकडो क्षुद्र भावनाओं का गुलाम होकर रहना स्वतन्त्रता है? हमारे जीवन में इन सब क्षुद्र सघर्षों के बीच स्वतन्त्रता की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है—सहिष्णुता। स्त्रियाँ स्वय अपने चिडचिड़े तथा ईर्ष्यायुक्त स्वभाव की गुलाम होती हुई भी अपने पतियो को ही दोष देती है। वे दावा करती है कि वे स्वाधीन हैं, परन्तु वे नहीं जानतीं कि ऐसा करने से स्वयं को निरी गुलाम ही सिद्ध कर रही है। और यही हाल उन पतियो का भी है जो सदैव अपनी स्त्रियों मे दोष देखा करते है।

पावित्र्य ही स्त्री तथा पुरुष का सर्वप्रथम धर्म है और ऐसा उदाहरण शायद ही कहीं हो कि एक पुरुष, वह चाहे जितना भी पथ-भ्रष्ट क्यों न हो गया हो, अपनी नम्र, प्रेमपूर्ण तथा पतिव्रता स्त्री द्वारा ठीक रास्ते पर न लाया जा सके। ससार अभी उतना नहीं गिरा है। हम बहुधा ससार मे बहुत से निर्दय पतियो के सम्बन्ध मे तथा पुरुषो के भ्रष्टाचरण के बारे मे सुनते रहते है,

परन्तु क्या यह बात सच नही है कि ससार मे उतनी ही निर्दय तथा भ्रष्ट स्त्रियाँ भी है ?

यदि सभी स्त्रियाँ इतनी शुद्ध तथा पवित्र हों जैसा कि वे दावा करती है, तो मुझे पूरा विश्वास है कि समस्त ससार मे एक भी अपवित्र मनुष्य न रह जायगा। ऐसा पाशविक भाव कौन है जिसे पावित्र्य तथा सतीत्व पराजित नहीं कर सकते ? एक शुद्ध पतिव्रता स्त्री, जो अपने पति को छोडकर अन्य सब पुरुषो को पुत्रवत् समझती है तथा उनके प्रति माता का भाव रखती है, धीरे-धीरे अपनी पवित्रता की शक्ति मे इतनी उन्नत हो जायगी कि पाशविक प्रवृत्ति वाला ऐसा एक भी मनुष्य न होगा जो उसके सान्निध्य मे पवित्र वातावरण का अनुभव न कर सके। इसी प्रकार प्रत्येक पति को अपनी स्त्री को छोड़कर अन्य सब स्त्रियो को अपनी माता, बहन अथवा पुत्रीवत् देखना चाहिए—विशेषकर उस मनुष्य को जो धर्म का प्रचारक होना चाहता है। उसे चाहिए कि वह प्रत्येक स्त्री को मातृवत् देखे और सदैव उसी प्रकार का उसके साथ व्यवहार करे।

मातृ-पद ही ससार मे सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि यही एक ऐसा पद है जहाँ अधिक-से-अधिक नि स्वार्थता की शिक्षा प्राप्त हो सकती है तथा उसका अभ्यास हो सकता है। केवल भगवत्प्रेम ही माता के प्रेम से उच्च है, अन्य सब तो निम्न श्रेणी के है। माता का कर्तव्य है कि पहले वह अपने बच्चो का सोचे और फिर अपना, परन्तु उसके बजाय यदि माता-पिता सर्वदा पहले अपने ही बारे मे सोचे तो फल यह होगा कि उनम तथा उनके बच्चो मे वही सम्बन्ध स्थापित हो जायगा जो चिड़ियो तथा उनके बच्चो मे होता है। चिड़ियो के बच्चे जब उड़ने योग्य हो जाते है तो अपने माँ-बाप को पहचानते तक नहीं। वास्तव मे वह पुरुष धन्य है जो स्त्री को ईश्वर के मातृ-भाव की प्रतिमूर्ति समझता है और वह स्त्री भी

धन्य है जो पुरुष को ईश्वर के पितृ-भाव की प्रतिमूर्ति मानती है तथा वे बच्चे भी धन्य है जो माता-पिता को भगवान् का ही एक रूप मानते है।

हमारी उन्नति का एक मात्र उपाय यह है कि हम पहले वह कर्तव्य करे जो हमारे हाथ मे है। इस प्रकार धीरे-धीरे शक्ति-सचय करते हुए क्रमश हम सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं।

एक दृष्टान्त है कि एक तरुण सन्यासी वन को गया। वहाँ उसने बहुत समय तक ध्यान-भजन तथा योगाभ्यास किया। अनेक वर्षो की कठिन तपस्या के बाद एक दिन जब वह एक वृक्ष के नीचे बैठा था तो उसके ऊपर वृक्ष से कुछ सूखी पत्तियाँ गिर पड़ीं। उसने अपनी निगाह ऊपर उठाकर देखा कि एक कौआ और बगुला पेड़ पर लड रहे है। यह देखकर सन्यासी को बहुत क्रोध आया और उसने कहा, "यह क्या ? तुम्हारा इतना साहस कि तुम ये सूखी पत्तियाँ मेरे सिर पर फेको ?" इन शब्दों के साथ सन्यासी की क्रुद्ध आँखो से आग की ज्वाला-सी निकली—क्योकि सन्यासी मे इतनी शक्ति थी और उस ज्वाला मे वे बेचारे दोनो पक्षी भस्म हो गए। अपनी यह शक्ति जानकर वह सन्यासी बहुत खुश हुआ, क्योकि उसने सोचा कि वह तो केवल एक दृष्टि से ही एक कौए तथा बगुले को भस्म कर सकता है। कुछ समय बाद भिक्षाटन करने के लिए वह एक गाँव को गया। गाँव मे जाकर वह एक दरवाजे पर खडा हुआ और उसने पुकारा, "माँ, मुझे भिक्षा दो।" घर के भीतर से आवाज आई, "मेरे बेटे, थोडा रुको।" सन्यासी ने मन मे सोचा—'यह कैसी दुष्ट स्त्री है ! इसमे इतना साहस कि यह मुझसे प्रतीक्षा कराये ! शायद यह मेरी शक्ति अभी जानती नहीं।' सन्यासी यह विचार कर ही रहा था कि भीतर से फिर एक आवाज आई, "बेटा, अपने को बहुत बडा मत समझो।

यहाँ न तो कोई कौआ है और न बगुला ही।" यह सुनकर सन्यासी को बडा आश्चर्य हुआ और वह थोडी देर खड़ा रहा। अन्त मे घर मे से एक स्त्री निकली और उसे देखकर सन्यासी उसके चरणो पर गिर पड़ा और बोला, "माँ, तुम्हे यह सब कैसे मालूम हुआ?" स्त्री ने उत्तर दिया, "बेटा, न तो मैं तुम्हारा योग जानती हूँ और न तुम्हारी तपस्या। मै तो एक साधारण स्त्री हूँ। मैंने तुम्हे इसलिए थोड़ी देर रोका था कि मेरे पतिदेव बीमार है और मै उनकी सेवा-शुश्रूषा मे सलग्न थी। यही मेरा कर्तव्य है। तमाम जीवन मैं इसी बात का यत्न करती रही हूँ कि अपना कर्तव्य पूर्ण रूप से निबाहूँ। जब मै अविवाहित थी तब मैंने अपने माता-पिता के प्रति कन्या का कर्तव्य किया और अब जब मेरा विवाह हो गया है, तो मै अपने पतिदेव के प्रति पत्नी का कर्तव्य करती हूँ। बस यही मेरा योगाभ्यास है। परन्तु यह मैं कह देना चाहती हूँ कि अपना कर्तव्य करने से ही मेरे दिव्य चक्षु खुल गए है, जिससे मैंने तुम्हारे विचारो को जान लिया और मुझे इस बात का भी पता चल गया कि तुमने वन मे क्या किया है। यदि तुम्हे इससे भी कुछ उच्चतर तत्त्व जानने की इच्छा है, तो अमुक नगर के बाजार मे जाओ जहाँ तुम्हे एक व्याध मिलेगा। वह तुम्हे कुछ ऐसी बातें बतलाएगा जिन्हे सुनकर तुम बडे प्रसन्न होगे।" सन्यासी ने विचार किया, 'भला मैं उस शहर मे व्याध के पास क्यो जाऊँ!' परन्तु फिर भी उसने उस स्त्री मे जो कुछ देखा था उसे सोचकर उसकी आँखे खुल गई थीं। इसीलिए वह उस शहर मे गया। जब वह शहर के नजदीक आया तो उसने दूर से एक बड़े मोटे व्याध को बाजार मे बैठे हुए और बडे-बडे छुरा से मास काटते हुए देखा। वह अनेक लोगो से अपना सौदा कर रहा था। सन्यासी ने सोचा, 'हे ईश्वर, यह क्या है? क्या यही वह व्यक्ति है जिससे मुझे शिक्षा मिलेगी? देखता

हूँ, यह तो शैतान का अवतार है।' इतने मे व्याध ने सन्यासी की ओर देखा और कहा, "हे महाराज, क्या उस स्त्री ने आपको मेरे पास भेजा है ? आप कृपया बैठ जाइए। मै जरा अपना काम समाप्त कर लूँ।" सन्यासी ने सोचा, 'यहाँ मुझे क्या मिलेगा ?' खैर, वह बैठ गया। इधर व्याध अपना काम लगातार करता रहा और जब वह अपना रोजगार पूरा कर चुका तो उसने अपने रुपये पैसे समेटे और तब सन्यासी से कहा, "चलिए महाराज, मेरे घर चलिए।" घर पहुँचकर व्याध ने उन्हे आसन दिया और कहा, "आप यहाँ थोडा ठहरिए।" व्याध अपने घर में चला गया। उसने अपने वृद्ध माता पिता को स्नान कराया, उन्हे भोजन कराया और उन्हे प्रसन्न करने के लिए जो कुछ कर सकता था किया। उसके बाद वह सन्यासी जी के पास आया और कहा, "महाराज, आप मेरे पास आये हैं। अब बताइये मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?" संन्यासी ने उससे आत्मा तथा परमात्मा-सम्बन्धी कुछ प्रश्न किये और उनके उत्तर मे व्याध ने उन्हे वह उपदेश दिया जो महाभारत में 'व्याधगीता' के नाम से प्रसिद्ध है। व्याध-गीता मे हमे वेदान्त दर्शन की बहुत ही ऊँची बाते मिलती है।

जब व्याध अपना उपदेश समाप्त कर चुका, तो सन्यासी को बडा आश्चर्य हुआ और उसने कहा, "फिर तुम ऐसे क्यो रहते हो ? इतने ज्ञानी होते हुए भी तुम व्याध क्यो हो जो इतना निन्दित तथा कुत्सित कार्य करते हो ?" व्याध ने उत्तर दिया, "वत्स, कोई भी कर्तव्य निन्दित नहीं है, कोई भी कर्तव्य अपवित्र नहीं है, मैं जन्म से ही इस परिस्थिति मे हूँ, यही मेरा प्रारब्ध-लब्ध कर्म है। बचपन से ही मैंने यह व्यापार सीखा है, परन्तु इसमे मेरी आसक्ति नहीं है। कर्तव्य के नाते मै इसे उत्तम रूप से करता हूँ। मैं अपना कर्तव्य गृहस्थ के नाते भी करता हूँ और अपने माता-पिता को प्रसन्न रखने के लिए जो कुछ मुझसे हो सकता है वह भी करता

हूँ। न तो मैं तुम्हारा योग जानता हूँ, न मैं कभी संन्यासी हुआ और न मैं कभी ससार छोड़कर वन मे ही गया। परन्तु फिर भी जो कुछ तुमने मुझमे सुना तथा देखा वह सब मुझे अपने कर्तव्य-पालन से ही प्राप्त हुआ है, जो मेरे पद के अनुरूप है तथा जो मैं अनासक्त भाव से करता हूँ।"

भारतवर्ष मे एक बहुत बड़े महात्मा[1] है। अपने जीवन मे मैंने जितने बडे-बडे महात्मा देखे उनमे से वह एक है। वह बडे अद्भुत है, कभी किसी को शिक्षा नहीं देते और यदि तुम उनसे कोई प्रश्न पूछो भी तो वह उसका उत्तर नहीं देते। उनके लिए गुरु का पद ग्रहण करना बड़े सकोच का काम है। वह ऐसा कभी नहीं करेगे। यदि तुम उनसे एक प्रश्न आज पूछो और उसके बाद कुछ दिन प्रतीक्षा करो तो किसी दिन अपनी बातचीत में वह उस प्रश्न को उठाकर उस पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डालते है। उन्होने मुझे एक बार कर्म का रहस्य बताया था। उन्होने कहा, 'साधन और सिद्धि का एक रूप समझो' अर्थात् साधना-काल मे साधन में ही मन-प्राण अर्पण करके कार्य करो, क्योंकि उसी की चरम अवस्था का नाम सिद्धि है। यदि तुम कोई कर्म कर रहे हो तो फिर अन्य किसी बात का विचार न करो। उसे उपासना—बड़ी उपासना—समझकर करो और उस समय के लिए तो उसमे अपना सारा तन और मन लगा दो। यही हमने उपरोक्त कथा मे भी देखा है। व्याध तथा उस स्त्री, दोनो ने अपना कर्तव्य बड़ी प्रसन्नता से तथा तन्मनस्क होकर किया और उसका फल यह हुआ कि उन्हे दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ, इससे हमे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जीवन की

---

[1] पवहारी बाबा एक प्रसिद्ध महात्मा थे। इनका आश्रम गाजीपुर मे था। स्वामी विवेकानन्द जी ने इनका सक्षिप्त जीवन-चरित्र भी लिखा है।

किसी भी अवस्था में बिना कर्म-फल में आसक्ति रखते हुए यदि कर्तव्य उचित रूप से किया जाता है तो उससे हमें परम पद की प्राप्ति होती है।

केवल वही मनुष्य, जो कर्म-फल में आसक्त है, अपने भाग्य में आये हुए कर्तव्य पर भिनभिनाता है। अनासक्त पुरुष को सब कर्तव्य एक समान हैं। उसके लिए तो वे कर्तव्य स्वार्थपरता तथा इन्द्रिय-परायणता को नष्ट करने के लिए शक्तिशाली साधन हैं, उन्हीं से उसकी आत्मा की मुक्ति होती है। हम अपने कर्तव्य पर जो भिनभिनाते हैं उसका कारण यह है कि हम सब बहुधा अपने तई बहुत सोचते हैं तथा अपने को बहुत योग्य समझते हैं, यद्यपि हम वैसे नहीं हैं। प्रकृति ही सदैव कड़े नियम से हमारे कर्मों के अनुसार उचित कर्म-फल का विधान करती है, उसमें तनिक भी हेर-फेर नहीं हो सकता। इसलिए अपनी ओर से चाहे हम किसी कर्तव्य को स्वीकार करने के लिए भले ही अनिच्छुक हों, फिर भी वास्तव में हमारे कर्म-फल के अनुसार हमारे कर्तव्य निर्दिष्ट होंगे ही। स्पर्धा से ईर्ष्या उत्पन्न होती है और उससे हृदय की कोमलता नष्ट हो जाती है। असन्तुष्ट तथा तकरारी पुरुष के लिए सभी कर्तव्य नीरस होते हैं। उसे तो कभी भी किसी चीज से सन्तोष नहीं होता और फलस्वरूप उसके जीवन का भारभूत तथा असफल होना स्वाभाविक है। हमें चाहिए कि हम काम करते रहें, जो कुछ भी हमारा कर्तव्य हो उसे करते रहें और अपना कन्धा सदैव काम में लगाए रहें, तभी हमें ज्ञान का प्रकाश निश्चय प्राप्त होगा।

● १२ ●

मन की दृढ़ता

(श्री बालकृष्ण भट्ट)

अनेक मानसिक शक्तियो मे दृढता भी मन का एक उत्तम धर्म और मनुष्य के प्रशसनीय गुणो मे है। परन्तु इन मानसिक शक्तियो पर कुछ लेख लिखने या उनके सम्बन्ध मे कुछ कथोपकथन करने के पहले यह प्रश्न उठता है कि इस कथोपकथन का उद्देश्य क्या है ? यदि यह माना जाय कि कोई-न-कोई मानसिक गुण लोगो मे रहता ही है और जो लोग उन गुणो का पूरा आनन्द और लाभ उठा रहे है वे उठाते ही होगे, तब आप अपने इस लेख से और क्या अधिक लाभ पहुॅचा सकते है। किन्तु इसके विपरीत यह मान लेने मे कि जितने अच्छे गुण है उनके उद्दीपित करने का यही उत्तम उपाय है कि हम उन गुणो की यथोचित मीमासा करके उनसे जो-जो लाभ हैं उन्हे प्रकट कर दिखाऍ तब अलबत्ता लेख आदि की आवश्यकता हो सकती है और कुछ नहीं तो इतना ही सही कि जो लोग उन गुणो के आधार हैं उनके साथ सहानुभूति प्रकट करने से हम ऐसे लोगो को किञ्चित् भी हर्ष पहुॅचा सकेंगे तो हमारे लेख का कुछ कृत्य हुआ और इसी को ध्यान मे रख हम आगे बढते है।

गधा पीटकर घोड़ा नहीं हो सकता। जिनमे किसी गुण का लेश नहीं है वे किसी तरह गुणशाली न हो सकेंगे, लोगो के इस

कहने को हम किसी-किसी अंश मे सत्य मानते है। अधिक विद्या की वृद्धि, स्थान-स्थान मे पुस्तकालय, क्लब और सभाएँ तथा अनेक उपकारी विषयो पर वक्तृता, समाचार-पत्र तथा विविध विद्या-विषयक नित्य नये मासिक-पत्रो का विशेष प्रचार यही सब उपाय है, जिनसे आप लोगो को चालचलन मे शुद्ध और सुचरित्र तथा मानसिक शक्तियो मे आगे को बढ़े हुए कर सकते हैं। जब ये उपाय आपका प्रयोजन सिद्ध करने को किसी तरह कारगर नहीं हुए और आपके लोग भी वे ही है जिन पर इसका कुछ असर नहीं पहुँच सका तो यह आशा ही करना व्यर्थ है कि यत्न और उपाय से जगत् का वह लाभ होगा जो आज तक नहीं हुआ। गधा पीटकर घोडा न हो सकेगा ऐसा मानने वालो के मत का खण्डन करना हमारा तात्पर्य नहीं है, किन्तु इसके साथ ही हम यह भी मानते है कि बुद्धि का काम मनुष्य को सत्कर्म-सम्बन्धी शिक्षा देने से यही मालूम होता है कि यद्यपि जो बात प्रबल सस्कार के कारण या किसी दूसरे-दूसरे हेतु से दैव ही ने किसी को नहीं दी वह बात हम उसमे न उपजा सके, तो इतना तो करे कि सदुपदेश की परिणत दशा पर उसकी ऑख तो खोल दे अर्थात् उसकी अपेक्षा दस भले लोग और दस बुरे लोगो के साथ उसके चाल-चलन का मिलान करके उसकी भली या बुरी चित्त-वृत्ति का एक अन्दाज़ा तो उसे दे दे। उपरान्त उसे स्वय अधिकार है चाहे वह अपनी दशा को आगे बढाए अथवा अध पतन मे अपने को नीचे गिराता ही जाय, क्योंकि अब यह कहने वाला तो कोई न रहेगा कि सुधारने के लिए किसी ने कुछ यत्न नहीं किया।

अब तो बुद्धि रूपी लैम्प के द्वारा उसने अपनी पहली निविड अन्धकार-पूरित अथवा प्रकाश के सस्कार से सस्कृत पिछली दशाओ को देख लिया है, तो इस बात का ज्ञान तो उसे अवश्य ही हो गया है कि हम कहाँ हैं और वे कौन और कैसे लोग है।

जिनसे हम कई दरजे अच्छे हैं अथवा वे कौन है जिनके समान हम चेष्टा करने से हो सकते है। और यह सब कोई छोटी बात नहीं है, क्योंकि यदि हमसे कोई पूछे कि प्रशसा का मूल आप किसे कहेंगे तो हम यही उत्तर देंगे कि प्रशसनीय केवल वे ही है जिन्होंने दीर्घ काल के अभ्यास और प्रयत्न से कुछ प्राप्त कर लिया है। यदि दैव की देन उस पर हुई और सहज ही मे कोई अच्छी बात उसे प्राप्त हो गई तो निस्सन्देह यह तो अवश्य ही कहेंगे कि वह गुणी है, पर यह न कहेंगे कि वह मनुष्य प्रशंसनीय है, क्योंकि जैसा हमने अभी कहा प्रशसनीय होने की योग्यता हम केवल असकृत चेष्टा और यत्नो ही पर निर्भर मानते है। ईश्वर की देन से स्वभावत प्राप्त गुणो की अपेक्षा चाहे असकृत चेष्टा और अभ्यास द्वारा प्राप्त गुणों मे वैसा तीखापन न हो, पर विचार की गम्भीरता इस प्रकार के गुण में अवश्य विशेप होगी, और यह लाभ किससे कम है। इस बात के स्पष्ट करने को हम कवित्व शक्ति का उदाहरण देते हैं। कवियो को कविता करने की शक्ति ईश्वर प्रदत्त होती है सही, परन्तु निरन्तर अभ्यास से जो कवित्व-शक्ति सम्पादित की जाती है, वह भी कुछ कम नहीं, वरन् विचार की गम्भीरता ऐसे ही काव्यो मे विशेष पाई जायगी, क्योंकि पहली तरह के काव्य मे कवि के हृदय से अपने-आप जो निकलेगा वही रहेगा, पर दूसरे प्रकार के काव्य में खूब सोच-समझ और गढ़-गढकर पद रखे जायँगे। कहाँ तक तब वे पद सारगर्भित न होगे। मम्मट भट्ट की कारिका से भी यह बात सम्यग् व्युत्पादित होती है.

"शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।"

दण्डी का भी यही मत है

"न विद्यते यद्यपि पूर्व वासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवम करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥
तदस्ततन्द्रैरनिश सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभि।
कृशे कवित्वेपि जना' कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तु मीशते॥"

कहने का प्रयोजन यह है कि नाना प्रकार के गुणो मे मनुष्यों की असमता मे विधाता का विषम भाव ही कारण है, परन्तु इसके साथ ही यह भी मानना पडेगा कि विधाता की विषमता से जो यह भॉति-भॉति की त्रुटियॉ ससार मे दीख पड़ती है उनको पूरा करने वाला सर्वोत्तम प्रधान कारक अभ्यास ही है

"करत-करत अभ्यास के जडमति होत सुजान।"

लडके शिक्षा कैसे ग्रहण करते है, इस बात को जिसने कभी सोचा है वह हमारी बात अवश्य मानेगा। बालक जब छोटे-से-छोटे दरजे मे रहता है तभी से अपनी विशेष रुचि किसी एक मुख्य विषय पर प्रकट करने लगता है। किसी विषय मे उसकी बुद्धि अधिक धँसती है, किसी बात के सीखने को वह अलसाता और जान छिपाता है। कोई-कोई बातो मे वह अपनी अरुचि आदि ही से प्रकट करता है। कोई-कोई बात मे शीघ्र उसकी बुद्धि पुष्ट पड जाती है। कुछ बातो में बडे यत्न के उपरान्त भी वह कमजोर बना रहता है। किसी को काव्य मे बडी रुचि है तो गणित क सीखने से दूर भागता है। किसी को दर्शनो ही के अभ्यास मे आनन्द मिलता है, काव्य का रस उसके नीरस चित्त मे स्थान ही नहीं पाता। किसी की तबियत शिल्प और कारीगरी की ओर अधिक झुकती है। किसी की प्रखर बुद्धि विज्ञान के ज्ञान में अतिशय दौडती है। क्यो ऐसा होता है? इसे यदि पूर्व सस्कार या ईश्वर की देन मानिये, तो बहुत कम लोगो का इसमे मतभेद होगा। तब इसके क्या माने? आप कह सकते है कि इस बालक को आरम्भ ही से अच्छी शिक्षा दी गई है अर्थात् इसके यही माने हैं कि जिस बात

की ओर इसका झुकाव होता था वह विषय तो उसमे खराद पर चढे नगीने की भॉति स्वय जगमगा रहा था। जिस बात की ओर से वह आलस्य-भाव धारण कर अरुचि प्रकट करता था, वह कभी भी उसमे भली भॉति सॅभाल दी गई। अन्त मे परिणाम इस बात का यह हुआ कि उस बालक की शिक्षा के सम्बन्ध मे आप कह सकते है कि इसे अच्छी शिक्षा या पूर्ण शिक्षा दी गई है। अब बतलाइए इस अच्छे या पूर्ण के क्या माने है—केवल यही कि यद्यपि बहुत बातों मे स्वभाव ही से वह बालक अच्छा रहा हो, परन्तु उत्तम शिक्षा के प्रभाव से उसके निर्बल अश भी दूर कर दिये गए और सब विषय मे पूर्ण अथवा 'कालाक्षरी' वाक्य उसके लिए उपयुक्त होता है।

यह हमने केवल एक दृष्टान्त के ढग पर दिखलाया, जो बात बालको मे देखते है। कोई ऐसी वजह नहीं कि जवानो मे वह बात न पाई जाय अर्थात् ईश्वर की देन (Natural Gifts) से जो बात नहीं आई उसे भी अभ्यास (Culture) द्वारा बढ़ाना। भेद इतना ही है कि बालको को इस बात की आवश्यकता है कि कोई दूसरा अपने सहारे मे उन्हे ले चले। पर जवानो को भला कौन सहारा देगा, यदि अपनी मदद वे आप ही न करे। और इसी का नाम हम मन की दृढ़ता रखेंगे। अब देखना चाहिए, इस मन की दृढता का असर उसी आदमी के खयाल पर किस तरह होता है।

कई लोग यह मानते है कि कुछ लोगो का किसी खास बात की तरफ झुकाव इत्तिफाक से है। ऐसी ही बात आ पडी है कि वह उस बात को चाहने लगता है या अच्छी तरह उस बात को समझता है। इस सबका कारण बिलकुल इत्तिफाक ही है। हमारी जान मे ऐसा मानने वालो की बडी भूल है। आदमी की पसन्द, तबियत, मिजाज, खयालात, रुचि और अरुचि, इनमे छोटी-से-छोटी या बडी-से-बड़ी बातो पर इत्तिफाक का उतना ही असर है

जितना इत्तिफाक से पेड़ मे कानी-खोतरी पत्तियाँ या फूल-फल लग सकते है। इन्हीं बातों पर सोचने से इस प्रश्न का उत्तर मिलता है कि कैसे मानसिक दृढ़ता रहने से किसी के खयालात मे वह जोर आता है जिसे देख या सुनकर लोग चमत्कृत होते हैं। जब यह माना गया कि आदमी का मन उसके खयालात के साथ ऐसे नथा है जैसे वृक्ष अपने एक-एक रगो-रेशे से नथा हुआ है, तो यह सिद्ध हुआ कि किसी मनुष्य के खयालात उसके मन और जबान पर वैसे ही हरे-भरे मालूम होंगे जैसे अपने स्थान मे जमा हुआ पेड हरा-भरा मालूम होता है। क्या यह कभी सम्भव है कि पेड को आप उखाड डाले? यह भी सम्भव नहीं है कि किसी के अनोखे खयालात उसके मन को छोड़कर कहीं और ठौर तरोताजगी को पा सके और इसी को हम मानसिक दृढता कहेंगे, जिसका अर्थ अनोखापन कहा जाय तो भी अनुचित नहीं है।

यहाँ तक हमने इस मानसिक दृढता का एक लक्षण लिखा। इस दृढता को हम हठ न कहेंगे। निस्सन्देह हठ की मजबूती इसमे है, पर एक तरह का अनोखापन जो इस दृढता मे पाया जाता है हठ या दुराग्रह के दोष का सम्पर्क भी इससे दूर हटा हुआ है। क्योंकि हठ का शब्द सुनने वाला किसी के बारे मे तभी प्रयोग करता है जब उसकी मजबूती का तो वह कायल है पर बात उसकी अप्रिय और अग्राह्य लगती है, जिनको आप मानसिक दृढता के साथ लगा ही नहीं सकते, क्योंकि यदि सुनने वालों को ग्राह्य-अग्राह्य, प्रिय-अप्रिय तय करने की फुरसत मिली तो बोलने वाले की मानसिक शक्ति की प्रशसा में हम 'दृढ़' का प्रयोग करते होंगे। न ही मानसिक दृढता का मुख्य लक्षण या गुण यह है कि वक्ता सुनने वाले का मन अपनी मुट्ठी मे कर ले।

इस दृढ़ मन का दूसरे के ऊपर क्या और कैसे असर होता है इसे हमने प्रकट कर दिखलाया। अब पाठकजन इससे यह न

समझ लें कि केवल अति दृढ़ मन वालों ही का असर दूसरे पर होता है, यह हमारा तात्पर्य नहीं है। पर यह एक साधारण नियम है कि जब कभी दो चित्त आपस मे टक्कर खायेंगे तो एक-दूसरे पर कुछ-न-कुछ असर होगा ही, इसी असर को भली या बुरी सोहबत का असर कहते है। सोहबत का असर जरूर होता है इसको रोकने की सामर्थ्य किसी की नहीं है। यह असम्भव है कि एक चित्त अपना असर दूसरे पर पैदा न करे या वह दूसरा भी उस असर को अपने ऊपर न आने दे, और यह एक ऐसी अनदेखी बात है जिसका रोकना या उसे कुछ अदल-बदलकर ग्रहण करना दोनों की सामर्थ्य के बाहर है। जब यह बात है तो दृढ़ मन वाले अपनी ऊँची समझ और ऊँचे खयालात मे कमजोर और दुर्बल चित्त वाला का ऐसा बेकाबू कर डालेगे जैसा बडे-से-बडे नशे का असर किसी को बेकाबू कर देता है। इसलिए दुर्बल चित्त वाले का दृढ मन वाले के साथ सम्पर्क कभी उपकारी नहीं है। इस चुपचाप असर पैदा करने की शक्ति को हम केवल आदमियो ही में नहीं वरन् जड पदार्थों मे भी पाते हैं। काठ पत्थर की सगति करके चिर काल के उपरान्त पत्थर हो जाता है, अंग्रेजी मे जिसे 'फासेल' कहते हैं। दो तरह के पत्थर, या दो तरह की खान, या दो तरह के वृक्ष, जो आस-पास होते है, उनका भी बहुत-कुछ असर एक-दूसरे पर होता है। हमने यह भी सुना है कि दो खान, जो आस-पास होती हैं, उनमे जो खान बडी या तीव्र द्रव्य की खान थी उसने छोटे और हल्के द्रव्य वाली खान को ऐसा दबाया कि कुछ दिन के उपरान्त दोनो एक मे मिल गई और दोनो एक ही द्रव्य की खान हो गई।

अब आप निश्चय कर सकते है कि एक मन का असर दूसरे पर कितना होता है—खासकर उनमे, जब दोनो मे एक अति दृढ़ और दूसरा दुर्बल मन है। अतएव दृढ़ मन यद्यपि उत्तम गुण है

पर दूसरों पर उसका असर इतना गुणकारी नहीं मालूम होता और इस दृढ मन के साथ सहानुभूति भी हो अर्थात् हर तरह के भले बुरे, ऊँचे-नीचे, ज्ञानी-अज्ञानी सबके मन मे प्रवेश करने की शक्ति भी हो तो दृढ मन मधुकर हो प्रत्येक मन का मधु निकाल-निकालकर लाभ उठाने की शक्ति बढ़ाता ही जायगा और सत्य क्या वस्तु है इसकी पहचान मे समर्थ होगा।

• १३ •

विश्वास का चमत्कार

(महात्मा भगवानदीन)

'मैं यह हूँ' की जानकारी का नाम ही विश्वास है। सब धर्मों, दर्शन-शास्त्रो की मंशा यही है कि 'मैं क्या हूँ' का हाल बताएँ। इस दृष्टि से ही दर्शन-शास्त्र दुनिया के अदब मे अपनी जगह बनाते है। मन का स्वस्थ बनाए रखने मे इसीलिए विश्वास अक्सीर माना जाता है। विश्वास हमे परिचय करा देता है। विश्वासहीन ही नास्तिक नाम पाता है। नास्तिक अनन्त आकाश मे बिखरे जड़ परमाणुओ की खोज मे लगकर अपनी आत्मा को ठडा कर डालता है। वह इस ओर भी ध्यान नहीं देता कि इन परमाणुओ का ज्ञान किसकी मदद से हो रहा है। कोई आदमी अपने को पहचाने बिना अपनी जिन्दगी से पूरा लाभ नहीं उठा सकना और न वह फर्ज को पूरा कर सकता है जिसके पूरा करने के लिए वह पैदा हुआ है।

आत्माभिमान बनाए रखने के लिए आदमी न मालूम क्या-क्या करता है, और उसे करना भी चाहिए। यह बुरी बात तो है ही नहीं, जरूरी है। अगर किसी आदमी को अपने बारे मे यह भी पता चले कि वह एक मामूली आत्मा है, तो भी उसके लिए ऊँचे विचारो मे मस्त रहना जरूरी है। ऊँचे विचारों के बल पर ही तो

वह अपने 'न-कुछ' से 'बहुत-कुछ' काम ले सकेगा। पत्थर मे जिस तरह अच्छी, बुरी, मामूली तीनो तरह की मूर्ति मौजूद रहती है, और वह अच्छे, बुरे, मामूली कलाकारों के हाथों जाहिर होती है, ठीक इसी तरह हर आत्मा मे अच्छे, बुरे, मामूली काम करने की काबलियत रहती है, पर वह अच्छे, बुरे, मामूली विश्वास मे ही काम मे आती है। जिससे जो-कुछ हो जाता है, उसको आत्मा ठीक बताकर अपनी तसल्ली करता है। उसकी जॉचने की कसौटी या तराजू वही होती है, जो परिस्थितियो ने उसे बनाकर दे दी है। इसीलिए तो इस बात पर जोर दिया जा रहा है कि विचार हमेशा ऊॅचे रखने चाहिएॅ। ऊॅचे विचारो से परिस्थितियों का असर अगर बिलकुल नष्ट नहीं होता तो कम तो हो ही जाता है।

इच्छाएॅ सबमे होती हैं और सब उनको पूरा करना चाहते हैं। ऊॅचे विचार वाले और नीचे विचार वाले मे एक ही इच्छा के पूरा करने मे अन्तर रहेगा। मान लो, दोनो मे लड्डू खाने की इच्छा पैदा हुई। यह भी मान लो कि दोनो के पास पैसा नहीं है। ऐसी हालत मे नीचे विचार वाला चोरी करके अपनी इच्छा पूरी करेगा और दूसरा मजदूरी करके, या साधारण आत्मा है तो भीख माँगकर। भीख मॉगना चोरी से नीच काम है या नहीं, इस बात पर दो राय हो सकती हैं, पर यह इस लेख का विषय न होने से छोड़ा जाता है। 'मैं कौन हूॅ' यह जानने की इच्छा भी इच्छा है और इसके जवाब भी अलग-अलग कई हो सकते हैं। हर जवाब मे जवाब देने वाले के सहारे दर्शन का निचोड रहेगा। वह जवाब ही विश्वास बनकर आगे की राह दिखाने मे काम आएगा। आदमी के अल्लाह की शक्ल वाला बने होने मे इतनी-सी सचाई है, जितनी कि खाक का पुतला होने मे। आदमी पचभूत का भी है और अजर-अमर आत्मा का भी। वह क्या नहीं है? परमात्मा और आत्मा भी। हम कहॉ तक ऊॅचे जा सकते हैं, यह अभी तय

नहीं हो पाया। आजकल ऊँचे जाने की हद नहीं। सच्चा फिर क्यों न विचार ऊँचे रखे और क्यो न अपनी इच्छाओ को उसी के मुताबिक पूरा किया करे?

अपने को तुच्छ मानकर ऊँचा जीवन बिताने मे तुम टोटे मे रहोगे। इस तरीके से तुम्हारी नाव किनारे न लग पाएगी, बीच मे ही डगमगाकर भॅवर मे जा फँसेगी। धर्म या धर्मों मे चाहे जितनी ही कमियाँ क्यो न हो, एक जबरदस्त गुण भी है और वह अकेला ही सब कमियो की ओर किसी की नजर नहीं जाने देता। वह गुण है यह आदमी अजर-अमर आत्मा है, मिट्टी का पुतला नहीं। मनुष्य खुदा का अश है, हड्डी-चमडे की मशीन नहीं। यह नहीं कि कुछ चीज मिलकर जिस्म बन गया और फिर उनमे मन का कल्ला फूट आया और फिर पूरा साहस आने पर आदमी कहलाने लगा। धर्म आदमी की जड अनादि-अनन्त मे जमा देता है और उसे सदा के लिए सुरक्षित कर देता है। धर्म आदमी मे परमात्मा होने का विश्वास करा देता है। सब बडे-बड़े धर्मो के 'मैं क्या हूँ' के जवाब सुनकर तबियत फड़क उठती है। तभी तो बचपन से विज्ञान मे लगे आदमी बड़ी जल्दी धर्म को स्वीकार करते हैं। मेरी राय मे सब धर्मो का निचोड यही है कि विश्वास से आदमी बदला जा सकता है।

हम वही है जो अपने को माने हुए है। अवतार हमारी मान्यता को बदलकर हमे कुछ-का-कुछ बना देते है। जो विश्वास अवतार हममें पैदा करते है क्या वह हम अपने-आप अपने मे पैदा नहीं कर सकते?—क्यो नहीं कर सकते? जरूर कर सकते है। कैसे? दो तरीको से—विवेक से और त्याग से। विश्वास के दो पहलू होने से ये दोनो एक ही हैं, कहने के लिए दो हैं। जीवन के तूफान मे डगमगाता आदमी अगर अपने पॉव जमाना चाहता है तो ऑखे खुली रखे और उन्हीं गुणी को अपनाए जो आदमी के

अपनाए जाने लायक है। उन्हीं उद्देश्यो की ओर दौड़े जिन तक पहुँचकर उसका आत्मा खुशी का भोजन पाएगा। अपना सबसे सच्चा, सबसे बलवान्, सबसे ज्ञानवान् वही मिलेगा। आदमी को सम्पूर्ण बनने के लिए विवेक के दीये को लेकर भले-बुरे गुणो की तमीज करनी ही होगी। उनम से एक को पकड़कर बैठना ही होगा। पकडते ही त्याग शुरू हो जायगा। सच को अपनाकर झूठ छोड़ना ही होगा। ऊँचा डडा पकडकर नीचे का छूट ही जायगा। चढने का तरीका यही है। 'हाँ हूँ' का दूसरा पहलू 'नहीं हूँ' है ही।

विवेक और त्याग न अपने-आप कभी पैदा हुए, न होते है, और न होगे। ये खासियते अलग कहीं मिलती ही नहीं। ये तो विश्वास के पाने वाले की शक्ल मे ही मिलती है। किसी मे विश्वास किये बिना ये दोनो तुम्हारे हाथ न लगेगी। विश्वास के बिना तुम ऐसे गिरोगे कि हजारो घोड़ो की ताकत वाला लोहे का घोड़ा भी तुम्हे न उठा सकेगा।

मरते आये हो, मर रहे हो, मरते रहोगे—यह सिलसिला तो न रुकेगा। हाँ, कुत्तो की मोत मरना रुक सकता है, और वह विश्वास से।

मानना शुरू कर दो कि तुम हो, आजाद हो, जो और कर रहे है, वह कर सकते हो, और ज्यादा भी कर सकते हो।

• १४ •

धोखा

(पंडित प्रतापनारायण मिश्र)

इन दो अक्षरों में भी न जाने कितनी शक्ति है कि इनकी लपेट में बचना यदि निरा असम्भव न हो तो भी यह कठिन तो अवश्य है। जबकि भगवान् रामचन्द्र ने मारीच राक्षस को सुवर्ण-मृग समझ लिया था तो हमारी-आपकी क्या सामर्थ्य है जो धोखा न खाएं। वरंच ऐसी-ऐसी कथाओं से विदित होता है कि स्वयं ईश्वर भी केवल निराकार-निर्विकार ही रहने की दशा में इससे पृथक् रहता है, सो भी एक रीति से नहीं भी रहता, क्योंकि उसके मुख्य कामों में से एक काम सृष्टि का उत्पादन करना है, उसके लिए उसे अपनी माया का आश्रय लेना पड़ता है, और माया, भ्रम, छल इत्यादि धोखे ही के पर्याय हैं। इस रीति से यदि हम कहें कि ईश्वर भी धोखे से अलग नहीं है तो अयुक्त न होगा, क्योंकि ऐसी दशा में यदि वह धोखा खाता नहीं तो धोखे से काम अवश्य लेता है, जिसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि माया का प्रपंच फैलाता है, वह धोखे की टट्टी खड़ी करता है।

अतः सबसे पृथक् रहने वाला ईश्वर भी ऐसा नहीं है, जिसके विषय में यह कहने का स्थान हो कि वह धोखे से अलग है, 'आश्चर्योस्य वक्ता' 'चित्रं देवानामुदगादनीकं' इत्यादि कहा है,

और आश्चय तथा चित्रत्व को मोटी भाषा मे धोखा ही कहते है, अथवा अवतार-धारण की दशा मे उसका नाम माया-वपुधारी होता है, जिसका अर्थ है—धोखे का पुतला। वह मत्स्य कच्छपादि रूपो मे प्रकट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है, वह धोखे का पुतला नहीं है तो क्या है? हम आदर के मारे उसे भ्रम से रहित कहते हैं, पर जिसके विषय मे कोई निश्चयपूर्वक 'इदमित्थ' कह नहीं सकता, जिसका सार भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता, वह निर्भ्रम या भ्रमरहित क्योकर कहा जा सकता है। शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है जिसके विषय मे भ्रम का आरोप भी न हो सके, पर उसके तो अस्तित्व तक मे नास्तिकों को सन्देह और आस्तिको को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है फिर वह निर्भ्रम कैसा? और जब वही भ्रम से पूर्ण है तब उसके बनाए संसार मे भ्रम अर्थात् धोखे का अभाव कहाँ?

वेदान्ती लोग जगत् को मिथ्या, भ्रम समझते है, यहाँ तक कि एक महात्मा ने किसी जिज्ञासु को भली भाँति समझा दिया था कि विश्व मे जो कुछ है, और जो कुछ होता है, सब भ्रम हैं। किन्तु यह समझाने के कुछ ही दिन उपरान्त उनके किसी प्रिय व्यक्ति का प्राणान्त हो गया, जिसके शोक मे वह फूट-फूटकर रोने लगे। इस पर शिष्य ने आश्चर्य मे आकर पूछा कि आप तो सब बातो को भ्रमात्मक मानते है, फिर जान बूझकर रोते क्यो है? इसके उत्तर मे उन्होंने कहा कि रोना भी भ्रम ही है। सच है! भ्रमोत्पादक भ्रम-स्वरूप भगवान् के बनाये हुए भव (ससार) मे जो कुछ है भ्रम ही है। जब तक भ्रम है तभी तक ससार है, वरच ससार का स्वामी भी तभी तक है, फिर कुछ भी नहीं। और कौन जाने, हो तो हमे उससे कोई काम नहीं। परमेश्वर सबका भरम बनाए रखे, इसी मे सब-कुछ है। जहाँ भरम खुल गया, वहीं लाख की

भलमसी खाक मे मिल जाती है। जो लोग पूरे ब्रह्मज्ञानी बनकर समार को सचमुच माया की कल्पना मान बैठते हैं वे अपनी भ्रमात्मक बुद्धि से चाहे अपने तुच्छ जीवन को साक्षात् सर्वेश्वर मानकर सर्वथा सुखी हो जाने का धोखा खाया करे, पर संसार के किसी काम के नही रह जाते है, वरच निरे अकर्त्ता, अभोक्ता बनने की उमंग मे अकर्मण्य और 'नारि नारि सब एक हैं जस मेहरी तस माय,' इत्यादि सिद्धान्तो के मारे अपना तथा दूसरो का जो अनिष्ट न कर बैठे वही थोड़ा है, क्योंकि लोक और परलोक का मजा भी धोखे ही मे पडे रहने से प्राप्त होता है। बहुत ज्ञान छाँटना सत्यानाशी की जड़ है। ज्ञान की दृष्टि से देखे तो आपका शरीर मल मूत्र, मास-मज्जादि घृणास्पद पदार्थ का विकास-मात्र है, पर हम उसे प्रीति का पात्र समझते हैं और दर्शन-स्पर्शनादि से आनन्द-लाभ करते है।

हमको वास्तव मे इतनी जानकारी भी नहीं है कि हमारे सिर मे कितने बाल है वा एक मिट्टी के गोले का सिरा कहाँ पर है, किन्तु आप हमे बड़ा भारी विज्ञ और सुलेखक समझते है तथा हमारी लेखनी या जिह्वा की कारीगरी देख-देखकर सुख प्राप्त करते हैं। बिचारकर देखिए तो धन-जन इत्यादि पर किसी का कोई स्वत्व नहीं है, इस क्षण वे हमारे काम आ रहे है, क्षण ही भर के उपरान्त न जाने किसके हाथ मे वा किस दशा मे पड़कर हमारे पक्ष मे कैसे हो जायँ, और मान भी ले कि इनका वियोग कभी न होगा तो भी हमे क्या ? आखिर एक दिन मरना है, और 'मुँद गईं आँखे तब लाखे केहि काम की।' पर यदि हम ऐसा समझकर सबसे सम्बन्ध तोड दे तो सारी पूँजी गँवाकर निरे मूर्ख कहलावे, स्त्री-पुत्रादि का प्रबन्ध न करके उनका जीवन नष्ट करने का पाप मुड़ियावे ! 'ना हम काहू के कोऊ न हमारा' का उदाहरण बनकर सब प्रकार के सुख-सुविधा, सुयश से वंचित रह जायँ। इतना ही नहीं, वरच

और भी सोचकर देखिए तो किसी को कुछ भी खबर नहीं है कि मरने के पीछे जीव की क्या दशा होगी।

बहुतेरो का सिद्धान्त यह भी है कि दशा किसकी होगी, जीव तो कोई पदार्थ ही नहीं है। घडी के जब तक सब पुरजे दुरुस्त है, और ठीक-ठीक लगे हुए है तभी तक उसमे खट-खट, टन-टन की आवाज आ रही है, जहाँ उसके पुरजो का लगाव बिगडा वहीं न उसकी गति है, न शब्द है। ऐसे ही शरीर का क्रम जब तक ठीक-ठीक बना हुआ है, मुख से शब्द और मन से भाव तथा इन्द्रियों से कर्म का प्राकट्य होता रहता है। जहा इसके क्रम में व्यतिक्रम हुआ वहीं सब खेल बिगड़ गया, बस फिर कुछ नहीं। कैसा जीव! कैसो आत्मा! एक रीति से यह कहना झूठ भी नहीं जान पडता, क्योंकि जिसके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है उसके विषय मे अन्ततोगत्वा यो ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार स्वर्ग-नरकादि के सुख-दु खादि का होना भी नास्तिको ही के मत से नहीं, किन्तु बड़े-बड़े आस्तिको के सिद्धान्त से भी 'अविदित सुख दुख निर्विशेष स्वरूप' के अतिरिक्त कुछ समझ मे नहीं आता।

स्कूल मे हमने भी सारा भूगोल और खगोल पढ डाला है, पर नरक और वैकुण्ठ का पता कहीं नहीं पाया। किन्तु भय और लालच को छोड़ दे तो बुरे कामो से घृणा और सत्कर्मों मे रुचि न रखकर भी तो अपना अथच पराया अनिष्ट ही करेगे। ऐसी-ऐसी बाते सोचने से गोस्वमी तुलसीदास जी का 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई' और श्री सूरदास जी का 'माया मोहनी मनहरन' कहना प्रत्यक्ष तथा सच्चा जान पड़ता है। फिर हम नहीं जानते कि धोखे को लोग क्यो बुरा समझते है? धोखा खाने वाला मूर्ख और धोखा देने वाला ठग क्यो कहलाता है? जब सब-कुछ धोखा-ही-धोखा है, और धोखे से अलग रहना

ईश्वर की भी सामर्थ्य से दूर है, तथा धोखे ही के कारण ससार का चर्खा पिन्न-पिन्न चला जाता है, नहीं तो ढिच्चर-ढिच्चर होने लगे, वरच रह ही न जाय तो फिर इस शब्द का स्मरण वा श्रवण करते ही आपकी नाक-भौं क्यो सिकुड जाती है? इसके उत्तर मे हम तो यही कहेगे कि साधारणत जो धोखा खाता है वह अपना कुछ-न-कुछ गॅवा बैठता है, और जो धोखा देता है उसका एक-न-एक दिन कलई खुले बिना नहीं रहती है, और हानि सहना व प्रतिष्ठा खोना दोनो बाते बुरी है, जो बहुधा इसके सम्बन्ध मे हो ही जाया करती है।

इसी से साधारण श्रेणी के लोग धोखे को अच्छा नहीं समझते, यद्यपि उससे बच नहीं सकते, क्योकि जैसे काजल की कोठरी मे रहने वाला बेदाग नहीं रह सकता वैसे ही भ्रमात्मक भवसागर मे रहने वाले अल्प सामर्थी जीव का भ्रम से सर्वथा बचा रहना असम्भव है, और जो जिससे बच नहीं सकता उसका उसकी निन्दा करना नीति-विरुद्ध है। पर क्या कीजिए, कच्ची खोपड़ी के मनुष्य को प्राचीन प्राज्ञगण अल्पज्ञ कह गए हैं, जिसका लक्षण ही है कि आगा-पीछा सोचे बिना जो मुँह पर आवे कह डालना और जो जी मे समावे कर उठना, नहीं तो कोई काम वा वस्तु वास्तव मे भली अथवा बुरी नहीं होती, केवल उसके व्यवहार का नियम बनने-बिगडने से बनाव-बिगाड हो जाया करता है।

परोपकार को कोई बुरा नहीं कह सकता, पर किसी को सब-कुछ उठा दीजिए तो क्या भीख मॉगकर प्रतिष्ठा अथवा चोरी करके धर्म खोइएगा, वा भूखो मरकर आत्महत्या के पाप-भागी होइएगा? यो ही किसी को सताना अच्छा नहीं कहा जाता है, पर यदि कोई ससार का अनिष्ट करता हो उसे राजा से दण्ड दिलवाइए वा आप ही उसका दमन कर दीजिए तो अनेक लोगो के हित का

पुण्य-लाभ होगा।

घी बड़ा पुष्टिकारक होता है, पर दो सेर पी लीजिए तो उठने-बैठने की शक्ति न रहेगी, और सखिया, सींगिया आदि प्रत्यक्ष विष है, किन्तु उचित रीति से शोधकर सेवन कीजिए तो बहुत से रोग-दोष दूर हो जायँगे। यही लेखा धोखे का भी है। दो-एक बार धोखा खाके धोखेबाजो की हिकमतें सीख लो, और कुछ अपनी ओर से झपकी-फुदनी जोडकर 'उसी की जूती उसी का सिर' कर दिखाओ तो बडे भारी अनुभवशाली वरच 'गुरु गुड ही रहा चेला शक्कर हो गया' का जीवित उदाहरण कहलाओगे। यदि इतना न हो सके तो उसे पास न फटकने दो तो भी भविष्य के लिए हानि और कष्ट से बच जाओगे।

योंही किसी को धोखा देना हो तो इस रीति से दो कि तुम्हारी चालबाज़ी कोई भाँप न सके, और तुम्हारा बलि-पशु यदि किसी कारण से तुम्हारे हथकडे ताड भी जाय तो किसीसे प्रकाशित करने के काम का न रहे। फिर बस, अपनी चतुरता के मधुर फल को मूर्खों के आँसू तथा गुरुघटालो के धन्यवाद की वर्षा के जल से धो और स्वादपूर्वक खा। इन दोनों रीतियो से धोखा बुरा नहीं है। अगले लोग कह गए हैं कि आदमी कुछ खोकर सीखता है, अर्थात् धोखा खाए बिना अक्किल नहीं आता, और बेईमानी तथा नीति-कुशलता मे इतना ही भेद है कि जाहिर हो जाय तो बेईमानी कहलाती है, और छिपी रहे तो बुद्धिमानी है।

हमें आशा है कि इतना लिखने से आप धोखे का तत्व—यदि निरे खेत के धोखे न हो, मनुष्य हो तो—समझ गए होंगे। पर अपनी ओर से इतना और समझा देना भी हम उचित समझते है कि धोखा खाके धोखेबाज का पहचानना साधारण समझ वालो का काम है। इससे जो लोग अपनी भाषा, भोजन, भेष, भाव और भ्रातृत्व को छोड़कर आपसे भी छुडवाया चाहते हो उनको समझे

रहिए कि स्वय धोखा खाये हुए है और दूसरो को धोखा देना चाहते है। इनसे ऐसो से बचना परम कर्तव्य है और जो पुरुष एव पदार्थ अपने न हो वे देखने मे चाहे जैसे सुशील और सुन्दर हो, पर विश्वास के पात्र नहीं है, उनसे धोखा हो जाना असम्भव नहीं है। बस, इतना स्मरण रखियेगा तो धोखे से उत्पन्न होने वाली विपत्तियो से बचे रहियेगा, नहीं तो हमे क्या, अपनी कुमति का फल अपने ही आँसुओ से धोओ और खाओगे, क्योकि जो हिन्दू होकर 'ब्रह्मवाक्य' नही मानता वह धोखा खाता है।

• १५ •

लोभ

(आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी)

लोभ बहुत बुरा है। वह मनुष्य का जीवन दुःखमय कर देता है, क्योंकि अधिक धनी होने से कोई सुखी नहीं होता। धन देने से सुख मोल नहीं मिलता। इसलिए जो मनुष्य सोने और चाँदी के ढेर ही को सब-कुछ समझता है, वह मूर्ख है। मूर्ख नहीं तो वह वृथा अहङ्कारी अवश्य है। जो बहुत धनवान् है, वह यदि बहुत बुद्धिमान् और बहुत योग्य भी होता तो हम धन ही को सब-कुछ समझते, परन्तु ऐसा नहीं है। धनी मनुष्य सबसे अधिक बुद्धिमान् नहीं होते। इसलिए धन को विशेष आदर की दृष्टि से देखना भूल है, क्योंकि उससे सच्चा सुख नहीं मिलता। इस देश के पहुँचे हुए विद्वानों ने धन को सदा तुच्छ माना है। यह बात आजकल के समय के अनुकूल नहीं। यूरोप और अमरीका के ज्ञानी धन ही को बल—बल नहीं, सर्वस्व—समझते हैं। परन्तु जिस धन के कारण अनेक अनर्थ होते हैं, उस धन को प्रधानता कैसे दी जा सकती है? और देशों में उसे भले ही प्रधानता दी जाय, परन्तु भारतवर्ष में उसे प्रधानता मिलना कठिन है। जिस देश के निवासी संसार ही को मायामय, अतएव दुःख का मूल कारण समझते हैं, वे धन को कदापि सुख का हेतु नहीं मान सकते।

बहुत धनवान् होना व्यर्थ है। उससे कोई लाभ नहीं, क्योकि साधारण रीति से खाने-पीने और पहनने आदि के लिए जो धन काम आता है, वही सफल है। उससे अधिक धन होने से कोई काम नहीं निकलता। स्वभाव अथवा प्रकृति के अनुसार ही खाने-पीने की आवश्यकताओ को दूर करने के लिए धन की चाह होती है। दूसरो को दिखलाने अथवा उसे स्वय देखने के लिए धन इकट्ठा करने से कोई लाभ नहीं। कोई जगत्-सेठ ही क्यो न हो, यदि वह सितार या वीणा बजाना सीखना चाहेगा, तो उसे उस विद्या को उसी तरह सीखना पड़ेगा जिस तरह एक निर्धन महा कङ्गाल को सीखना पड़ता है। उस गुण को प्राप्त करने मे उसकी धनाढ्यता जरा भी काम न देगी। वह उसे मोल नहीं ले सक्ता। जब उसे धन के बल से वीणा बजाने के समान एक साधारण गुण भी नहीं मिल सकता, तब शान्ति, शुद्धता और धीरता आदि पवित्र गुण क्या कभी उसे मिल सकते है? कभी नहीं।

जिसके पास आवश्यकता से थोड़ा भी अधिक धन हो जाता है, वह अपने-आपको अर्थात् यो कहिये कि अपनी आत्मा को, अपने वश मे नहीं रख सकता, क्योंकि सन्तोष न होने के कारण वह उस धन को प्रतिदिन बढ़ाने का यत्न करता है। अतएव वह धन किस काम का जो लोभ बढ़ाता जाय? भूख लगने पर भोजन कर लेने से तृप्ति हो जाती है, प्यास लगने पर पानी पी लेने से तृप्ति हो जाती है, परन्तु धन से तृप्ति नहीं होती। उसे पाकर और भी लोभ बढता है। इसलिए धनी होना एक प्रकार का रोग है। रात को जाडे से बचने के लिए एक लिहाफ काफी होता है। यदि किसी के ऊपर आठ-दस लिहाफ डाल दिए जायॅ तो उसे बोझ मालूम होने लगेगा और उल्टा कष्ट होगा। परन्तु धन की वृद्धि से कष्ट नहीं मालूम होता। इसीलिए धनाढ्यता भी एक प्रकार की बीमारी है। जिसे भस्मक

रोग हो जाता है, वह खाता ही चला जाता है। उसे कभी तृप्ति नहीं होती। जिसे धनाढ्यता-रोग हो जाता है, वह कभी तृप्त नहीं होता। तृप्ति का न होना, अर्थात् आवश्यकताओ का बढ जाना ही, दु ख का कारण है। और जहाँ दु ख है, वहाँ सुख हो ही नहीं सकता। उन दोनो मे परस्पर वैर है। अतएव उसी को धनी समझना चाहिए जिसकी आवश्यकताएँ कम है क्योकि वह थोड़े मे तृप्त हो जाता है। तृप्ति ही सुख है और लोभ ही दु ख है।

सन्तोष नीरोगता का लक्षण है, लोभ बीमारी का लक्षण है। जो मनुष्य खाते-खाते सन्तुष्ट नहीं होता उसे अधिक खिलाने की आवश्यकता नहीं पडती। उसके लिए वैद्य की आवश्यकता होती है। ऐसे मनुष्यो को अधिक खिलाने की अपेक्षा उनके खाये हुए पदार्थ को वमन कराके बाहर निकालना पडता है, क्योकि अनावश्यक अथवा आवश्यकता से अधिक पदार्थ पेट मे रहने से रोग हुए बिना नहीं रहता। इसी तरह जिनको सन्तोष नहीं, अर्थात् जो लोग प्रतिदिन अधिक-से-अधिक धन इकट्ठा करने के यत्न मे रहते है, उनको अधिक देने की अपेक्षा उनसे कुछ छीन लेना अच्छा है। क्योकि जब कोई वस्तु कम हो जाती है, तब मनुष्य बची हुई से सन्तोष करता है। अतएव सन्तोष होने से उसे सुख मिलता है। सन्तोष न होने से कभी सुख नहीं मिलता, किसी-न-किसी वस्तु की सदैव कमी ही बनी रहती है। लोभी मनुष्य को चाहे त्रिलोक की सम्पत्ति मिल जाय तो भी उसे और सम्पत्ति पाने की इच्छा बनी रहेगी।

लोभ एक तरह की बीमारी है, परन्तु है बड़ी सख्त बीमारी। सख्त इसलिए है कि वह अपने को बढ़ाने का यत्न करती है, घटाने का नहीं। जो मनुष्य भूखा होता है, वह भोजन करता है, भोजन छोड़ नहीं देता। परन्तु लोभी का प्रकार उल्टा है। उसे द्रव्य की

भूख रहती है, परन्तु जब वह उसे मिल जाता है, तब उसे वह काम मे नहीं लाता—रख छोड़ता है और अधिक धन पाने के लिए दौड़-धूप करने लगता है।

लोभी मनुष्य बहुधा इसलिए धन इकट्ठा करता है जिससे उसे किसी समय उसको कमी न पड़े, परन्तु उसे कमी हमेशा ही बनी रहती है। पहले उसकी कमी कल्पित होती है, परन्तु पीछे से वह यथार्थ—असली—हो जाती है, क्योकि घर मे धन होने पर भी वह काम मे नही ला सकता। लोभ से असन्तोष की वृद्धि होती है और सन्तोष का सुख खाक में मिल जाता है। लोभ से भूख बढ़ती है और तृप्ति घटती है। लोभ से मूल-धन व्यर्थ बढ़ता है, और उसका उपयोग कम होता है। लोभी का धन देखने के लिए, वृथा रक्षा करने के लिए और दूसरो को छोड जाने ही के लिए है। ऐसे धन से क्या लाभ ? ऐसे धन को इकट्ठा करने मे अनेक कष्ट उठाने की अपेक्षा ससार-भर मे जितना धन है, उसे अपना ही समझना अच्छा है, क्योंकि लोभी का धन उसके काम तो आता नहीं, इसलिए उसे दूसरे का धन, मन-ही-मन अपना समझने मे कोई हानि नहीं। उससे उल्टा लाभ है, क्योंकि उसे प्राप्त करने के लिए परिश्रम नहीं करना पड़ता। लोभियो को खजाने के सन्तरी समझना चाहिए। लोभी मनुष्य जब तक जीते हैं, तब तक सन्तरी के समान अपने धन की रखवाली करते हैं और मरने पर उसे दूसरो के लिए छोड़ जाते हैं।

कोई-कोई लोभी अपने पीछे अपने लडको के काम आने के लिए धन इकट्ठा करते हैं। उनको यह समझ नहीं कि जिस धन के बिना उनका काम चल गया, उसके बिना उनके लडकों का भी चल जायगा। इस प्रकार बाप-दादे का धन पाकर अनेक लोग बहुधा उसे बुरे कर्मों मे लगाकर खुद भी बदनाम होते हैं और अपने बाप-दादे को भी बदनाम करते है।

धनवान् यदि लोभी है तो उसे रात को वैसी नींद नहीं आ सकती जैसी निर्धन अथवा निर्लोभी को आती है। धनवान् को निर्धन की अपेक्षा भय भी अधिक रहता है। यदि मनुष्य लोभी है तो थोड़ी सम्पत्ति वाले से हम अधिक सम्पत्ति वाले ही को दरिद्री कहेंगे, क्योंकि जिसे ५ रुपये की आवश्यकता है, वह उतना दरिद्री नहीं, जितना ५०० रुपये की आवश्यकता वाला है। कहाँ ५ और कहाँ ५०० ? सधनता और निर्धनता मन की बात है। जिनका मन उदार है, वे अनुदार और लोभी मनुष्यों की अपेक्षा अधिक धनवान् है, क्योंकि उदारता के कारण उनका धन किसी के काम तो आता है, चाहे वह बहुत ही थोडा क्यों न हो। बहुत धन होकर भी यदि मनुष्य लोभी हुआ और उसका धन किसी के काम न आया तो उसका होना न होना दोनों बराबर है। शेख सादी ने बहुत ठीक कहा है

"तवङ्गरी बदिलस्त न बमाल।"

अर्थात् अमीरी दिल से होती है, माल से नहीं।

• १६ •

करुणा

(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)

जब बच्चे को कार्य-कारण-सम्बन्ध कुछ-कुछ प्रत्यक्ष होने लगता है तभी दु ख के उस भेद की नींव पड जाती है जिसे करुणा कहते हैं। बच्चा पहले यह देखता है कि जैसे हम है वैसे ही ये और प्राणी भी है और बिना किसी विवेचना-क्रम के स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा वह अपने अनुभवो का आरोप दूसरे प्राणियो पर करता है। फिर कार्य-कारण-सम्बन्ध से अभ्यस्त होने पर दूसरे के दु ख के कारण वा कार्य को देखकर उनके दु ख का अनुमान करता है और स्वयं एक प्रकार का दु ख अनुभव करता है। प्राय देखा जाता है कि जब माँ झूठ-मूठ 'ऊँ-ऊँ' करके रोने लगती है तब कोई-कोई बच्चे भी रो पडते है।[1] इस प्रकार जब उनके किसी भाई वा बहन को कोई मारने उठता है तब वे कुछ चचल हो उठते हैं।[2]

दु ख की श्रेणी मे परिणाम के विचार से करुणा का उलटा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। किसी पर प्रसन्न होकर भी लोग उसकी

---

१ कार्य। २ कारण।

भलाई करते है, इस प्रकार पात्र की भलाई की उत्तेजना दु ख और आनन्द दोनो की श्रेणियो मे रखी गई है। आनन्द की श्रेणी मे ऐसा कोई शुद्ध मनोविकार नहीं है जो पात्र की हानि की उत्तेजना करे, पर दु ख की श्रेणी मे ऐसा मनोविकार है जो पात्र की भलाई की उत्तेजना करता है। लोभ से जिसे मैंने आनन्द की श्रेणी मे रखा है, चाहे कभी-कभी और व्यक्तियो वा वस्तुओ को हानि पहुँच जाय पर जिसे जिस व्यक्ति वा वस्तु का लोभ होगा उसकी हानि वह कभी नहीं करेगा। लोभी महमूद ने सोमनाथ को तोडा पर भीतर से जो जवाहरात निकले उनको खूब सँभालकर रखा। नूरजहाँ के रूप के लोभी जहाँगीर ने शेर अफगन को मरवाया पर नूरजहाँ को बडे चैन से रखा।

कभी-कभी नम्रता, सज्जनता, धृष्टता, दीनता आदि मनुष्य की स्थायी वासनाएँ, जिन्हे गुण कहते है, तीव्र होकर मनोवेगो का रूप धारण कर लेती है पर वे मनोवेगो मे नहीं गिनी जातीं।

ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य ज्योही समाज मे प्रवेश करता है, उसके दु ख और सुख का बहुत सा अश दूसरो की क्रिया वा अवस्था पर निर्भर हो जाता है और उसके मनोविकारो के प्रवाह तथा जीवन के विस्तार के लिए अधिक क्षेत्र हो जाता है। वह दूसरो के दु ख मे दुखी और दूसरो के सुख से सुखी होने लगता है। अब देखना यह है कि क्या दूसरो के दु ख से दुखी होने का नियम जितना व्यापक है उतना ही दूसरो के सुख से सुखी होने का भी। मै समझता हूँ, नहीं। हम अज्ञात-कुल-शील मनुष्य के दु ख को देखकर भी दुखी होते है। किसी दुखी मनुष्य को सामने देखकर हम अपना दुखी होना तब तक के लिए बन्द नहीं रखते जब तक कि यह न मालूम हो जाय कि वह कौन है, कहाँ रहता है और कैसा है। यह और बात है कि यह जानकर कि जिसे पीड़ा पहुँच रही है उसने कोई भारी अपराध या अत्याचार किया

है, हमारी दया दूर वा कम हो जाय। ऐसे अवसर पर हमारे ध्यान के सामने वह अपराध वा अत्याचार आ जाता है और उस अपराधी वा अत्याचारी का वर्तमान क्लेश हमारे क्रोध की तुष्टि का साधक हो जाता है। साराश यह है कि करुणा की प्राप्ति के लिए पात्र मे दु ख के अतिरिक्त और किसी विशेषता की अपेक्षा नहीं, पर आनन्दित हम ऐसे ही आदमी के सुख को देखकर होते है जो या तो हमारा सुहृद् या सम्बन्धी हो अथवा अत्यन्त सज्जन, शीलवान् वा चरित्रवान् होने के कारण समाज का मित्र वा हितू हो। यो ही किसी अज्ञात व्यक्ति का लाभ वा कल्याण सुनने से हमारे हृदय मे किसी प्रकार के आनन्द का उदय नहीं होता। इससे प्रकट है कि दूसरो के दु ख से दुखी होने का नियम बहुत व्यापक है और दूसरो के सुख से सुखी होने का नियम उसकी अपेक्षा परिमित है। इसके अतिरिक्त दूसरों को सुखी देखकर जो आनन्द होता है उसका न तो कोई अलग नाम रखा गया है और न उसमे वेग या क्रियोत्पादक गुण है। पर दूसरों के दु ख के परि-ज्ञान से जो दु.ख होता है वह करुणा, दया आदि नामो से पुकारा जाता है और अपने कारण को दूर करने की उत्तेजना करता है।

जब कि अज्ञात व्यक्ति के दु ख पर दया बराबर उत्पन्न होती है तब जिस व्यक्ति के साथ हमारा विशेष ससर्ग है, जिसके गुणो से हम अच्छी तरह परिचित है, जिसका रूप हमे भला मालूम होता है उसके उतने ही दु.ख पर हमे अवश्य अधिक करुणा होगी। किसी भोली-भाली सुन्दरी रमणी को, किसी सच्चरित्र परोपकारी महात्मा को, किसी अपने भाई-बन्धु को दु ख मे देखकर हमे अधिक व्याकुलता होगी। करुणा की यह सापेक्ष तीव्रता जीवन-निर्वाह की सुगमता और कार्य-विभाग की पूर्णता के उद्देश्य से इस प्रकार परिमित की गई है।

मनुष्य की प्रकृति मे शील और सात्विकता का आदि-सस्थापक

यही मनोविकार है। मनुष्य की सज्जनता वा दुर्जनता अन्य प्राणियो के साथ उसके सम्बन्ध वा संसर्ग द्वारा ही व्यक्त होती है। यदि कोई मनुष्य जन्म से ही किसी निर्जन स्थान मे अपना निर्वाह करे तो उसका कोई कर्म सज्जनता या दुर्जनता की कोटि मे न आएगा। उसके सब कर्म निर्लिप्त होगे। ससार मे प्रत्येक प्राणी के जीवन का उद्देश्य दु.ख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है, अत सबके उद्देश्यो को एक साथ जोडने से ससार का उद्देश्य सुख का स्थापन और दु ख का निराकरण या बचाव हुआ। अत जिन कर्मो से ससार के इस उद्देश्य का साधन हो वे उत्तम है। प्रत्येक प्राणी के लिए उससे भिन्न प्राणी ससार है। जिन कर्मों से दूसरे के वास्तविक सुख का साधन और दु.ख की निवृत्ति हो वे शुभ और सात्विक हैं तथा जिस अन्त.करण वृत्ति से इन कर्मो मे प्रवृत्ति हो वह सात्विक है। कृपा वा प्रसन्नता से भी दूसरो के सुख की योजना की जाती है। पर एक तो कृपा वा प्रसन्नता मे आत्म-भाव छिपा रहता है और उसकी प्रेरणा से पहुँचाया हुआ सुख एक प्रकार का प्रतिकार है। दूसरी बात यह है कि नवीन सुख की योजना की अपेक्षा प्राप्त दु ख की निवृत्ति की आवश्यकता अत्यन्त अधिक है।

दूसरे के उपस्थित दु ख से उत्पन्न दु ख का अनुभव अपनी तीव्रता के कारण मनोवेगो की श्रेणी मे माना जाता है, पर अपने आचरण द्वारा दूसरे के सभाव्य दु:ख का ध्यान या अनुमान, जिसके द्वारा हम ऐसी बातो से बचते हैं जिनसे अकारण दूसरे को दु ख पहुँचे, शील वा साधारण सद्वृत्तिके अन्तर्गत समझा जाता है। बोलचाल की भाषा मे तो 'शील' शब्द से चित्त की कोमलता वा मुरौवत हो का भाव समझा जाता है, जैसे—'उनकी आँखो मे शील नहीं है', 'शील तोडना अच्छा नहीं।' दूसरो का दु ख दूर करना और दूसरो को दु ख न पहुँचाना, इन दोनो बातों का निर्वाह करने

वाला नियम न पालने का दोषी हो सकता है, पर दु शीलता वा दुर्भाव का नही। ऐसा मनुष्य झूठ बोल सकता है पर ऐसा नहीं कर सकता जिससे किसी का कोई काम बिगड़े या जी दुखे। यदि वह कभी बड़ो की कोई बात न मानेगा तो इसलिए कि वह उसे ठीक नहीं जॅचती, वह उसके अनुकूल चलने मे असमर्थ है, इसलिए नहीं कि बड़ों का अकारण जी दुखे। मेरे विचार के अनुसार 'सदा सत्य बोलना', 'बड़ो का कहना मानना' आदि नियम के अन्तर्गत है, शील वा सद्भाव के अन्तर्गत नहीं। झूठ बोलने से बहुधा बड़े-बडे अनर्थ हो जाते है इसीसे उसका अभ्यास रोकने के लिए यह नियम कर दिया गया कि किसी भी अवस्था मे झूठ बोला ही न जाय। पर मनोरजन खुशामद और शिष्टाचार आदि के बहाने ससार मे ऐसा बहुत सा झूठ बोला जाता है जिस पर कोई समाज कुपित नही होता। किसी-किसी अवस्था मे तो धर्म ग्रन्थो मे झूठ बोलने की इजाजत तक दे दी गई है, विशेषत तब जब कि इस नियम-भग द्वारा अन्तःकरण की किसी उच्च और उदारवृत्ति का साधन होता हो। यदि किसी के झूठ बोलने मे कोई निरपराध और निःसहाय व्यक्ति अनुचित दण्ड से बच जाय तो ऐसा झूठ बोलना बुरा नही बतलाया गया है, क्योकि नियमशील वा सद्वृत्ति का साधक है, समकक्ष नहीं। मनोवेग-वर्जित सदाचार केवल दम्भ है। मनुष्य के अन्त करण मे सात्विकता की ज्योति जगाने वाली यही करुणा है। इसी से जैन और बौद्ध धर्म मे इसको बड़ी प्रधानता दी गई और गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है—

पर-उपकार सरिस न भलाई।
पर-पीडा सम नहीं अधमाई॥

यह बात स्थिर और निर्विवाद है कि श्रद्धा का विषय किसी-न-किसी रूप मे सात्विक शीलता ही है। अतः करुणा और सात्विकता का सम्बन्ध इस बात से और भी प्रमाणित होता है

क किसी पुरुष को दूसरे पर करुणा करते देखकर तीसरे को करुणा करने वाले पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। किसी प्राणी में और किसी मनोवेग को देखकर श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती। किसी को क्रोध, भय, ईर्ष्या, घृणा, आनन्द आदि करते देखकर लोग उस पर श्रद्धा नहीं कर बैठते। यह दिखलाया ही जा चुका है कि प्राणियो की आदि-अन्त.करण-वृत्ति रागात्मक है। अत मनोवेगो में से जो श्रद्धा का विषय हो वही सात्विकता का आदि-संस्थापक ठहरा। दूसरी बात यह भी ध्यान देने की है कि मनुष्य का आचरण मनो-वेग वा प्रवृत्ति ही का फल है। बुद्धि दो वस्तुओ के रूपो को अलग-अलग दिखला देगी, यह मनुष्य के मनोवेग पर निर्भर है कि वह उनमे से किसी एक को चुनकर कार्य मे प्रवृत्त हो। कुछ दार्शनिकों ने तो यहाँ तक दिखलाया है कि हमारे निश्चयो का अन्तिम आधार अनुभव वा कल्पना की तीव्रता ही है, बुद्धि द्वारा स्थिर की हुई कोई वस्तु नहीं। गीली लकडी को आग पर रखने से हमने एक बार धुआँ उठते देखा, दस बार देखा, हजार बार देखा, अत हमारी कल्पना मे यह व्यापार जम गया और हमने निश्चय किया कि गीली लकडी आग पर रखने से धुआँ होता है। यदि विचारकर देखा जाय तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि अन्तःकरण की सारी वृत्तियाँ कवल मनोवेगो की सहायिका है, वे मनोवेगो के लिए उपयुक्त विषय-मात्र ढूँढती हैं। मनुष्य की प्रवृत्ति पर कल्पना और मनोवेगों को व्यवस्थित और तीव्र करने वाले कवियो का प्रभाव प्रकट ही है।

प्रिय के वियोग से जो दु.ख होना है वह भी करुणा कहलाता है, क्योकि उसमे दया व करुणा का अश भी मिला रहता है। ऊपर कहा जा चुका है कि करुणा का विपय दूसरे का दुःख है। अत प्रिय के वियोग मे इस विषय की सप्राप्ति किस प्रकार होती है, यह देखना है। प्रत्यक्ष निश्चय कराता है और परोक्ष अनिश्चय

मे डालता है। प्रिय व्यक्ति के सामने रहने से उसके सुख का जो निश्चय होता रहता है वह उसके दूर होने से अनिश्चय मे परिवर्तित हो जाता है। अस्तु, प्रिय के वियोग पर उत्पन्न करुणा का विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है। जो करुणा हमे साधारण जनो के उपस्थित दु ख से होती है वही करुणा हमे प्रियजनो के सुख के अनिश्चय-मात्र से होती है। साधारण जनो का तो हमे दु ख असह्य होता है पर प्रियजनो क सुख का अनिश्चय ही। अनिश्चित बात पर सुखी या दुखी होना ज्ञानवादियो के निकट अज्ञान है, इसी से इस प्रकार के दु ख वा करुणा को किसी-किसी प्रातिक भाषा मे 'मोह' भी कहते है। साराश यह है कि प्रिय के वियोग-जनित दु'ख मे जो करुणा का अंश रहता है उसका विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है। राम-जानकी के वन चले जाने पर कौशल्या उनके सुख के अनिश्चय पर इस प्रकार दुखी होती है

वन को निकरि गए दोउ भाई।
सावन गरजै, भादो बरसै, पवन चलै पुरवाई।
कौन बिरिछ तर भीजत ह्वै है, राम लखन दोउ भाई॥

—गीत

प्रेमी को यह विश्वास कभी नहीं होता कि उसके प्रिय के सुख का ध्यान जितना वह रखता है, उतना संसार मे और भी कोई रख सकता है। श्रीकृष्ण गोकुल से मथुरा चले गए जहाँ सब प्रकार का सुख-वैभव था, पर यशोदा इसी सोच मे मरती रहीं कि .

प्रात समय उठि माखन रोटी को बिन माँगे दैहै?
को मेरे बालक कुँवर कान्ह को छिन-छिन आगो लैहै?

और उद्धव से कहती है

सँदेसो देवकी सो कहियो।
हौ तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो॥

उबटन, तेल और तातो जल देखत ही भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रम क्रम करिके न्हाते ॥
तुम तो टेव जानतिहि ह्वै हौ तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लडैतहि माखन रोटी भावै ॥
अब यह 'सूर' मोहि निसि-बासर बडो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलक लड़ैते लालन ह्वै है करत सँकोच ॥

वियोग की दशा मे गहरे प्रेमियों को प्रिय के सुख का अनिश्चय ही नहीं, कभी-कभी घोर अनिष्ट की आशंका तक होती है, जैसे एक पति-वियोगिनी स्त्री सन्देह करती है

नदी किनारे धुआँ उठत है, मै जानूँ कछु होय।
जिसके कारण मैं जली, वही न जलता होय ॥

प्रिय के वियोग-जनित दु ख मे जो करुणा का अश होता है उसे तो मैंने दिखलाया, किन्तु ऐसे दु ख का प्रधान अग आत्मपक्ष-सम्बन्धी एक और ही प्रकार का दु.ख होता है जिसे शोक कहते है। जिस व्यक्ति से किसी की घनिष्ठता और प्रीति होती है वह उसके जीवन के बहुत से व्यापारो तथा मनोवृत्तियो का आधार होता है। उसके जीवन का बहुत सा अश उसी के सम्बन्ध द्वारा व्यक्त होता है। मनुष्य अपने लिए ससार आप बनाता है। ससार तो कहने-सुनने के लिए है, वास्तव मे किसी मनुष्य का ससार तो वे ही लोग हैं जिनसे उसका संसर्ग या व्यवहार है। अत. ऐसे लोगो मे से किसी का दूर होना उसके लिए उसके ससार के एक अश का उठ जाना या जीवन के एक अग का निकल जाना है। किसी प्रिय वा सुहृद् के चिर-वियोग या मृत्यु के शोक के साथ करुणा या दया का भाव मिलकर चित्त को बहुत व्याकुल करता है। किसी के मरने पर उसके प्राणी उसके साथ किये हुए अन्याय या कुव्यवहार तथा उसकी इच्छा-पूर्ति के सम्बन्ध में अपनी त्रुटियो को स्मरण करके और यह सोचकर कि

उसकी आत्मा को सन्तुष्ट करने की सम्भावना सब दिन के लिए जाती रही, बहुत अधीर और विकल होते हैं।

सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है। समाज-शास्त्र के पश्चिमी ग्रन्थकार कहते है कि समाज मे एक-दूसरे की सहायता अपनी-अपनी रक्षा के विचार से की जाती है, यदि ध्यान से देखा जाय तो कर्म क्षेत्र मे परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देने वाली किसी-न-किसी रूप मे करुणा ही दिखाई देगी। मेरा यह कहना नहीं कि परस्पर सहायता का परिणाम प्रत्येक का कल्याण नहीं है। मेरे कहने का यह अभिप्राय है कि ससार मे एक-दूसरे की सहायता, विवेचना द्वारा निश्चित, इस प्रकार के दूरस्थ परिणाम पर दृष्टि रखकर नहीं की जाती बल्कि मन की प्रवृत्तिकारिणी प्रेरणा से की जाती है। दूसरे की सहायता करने से अपनी रक्षा की भी सम्भावना है, इस बात या उद्देश्य का ध्यान प्रत्येक, विशेषकर सच्चे सहायक को तो नहीं रहता। ऐसे विस्तृत उद्देश्यो का ध्यान तो विश्वात्मा स्वय रखता है, वह उसे प्राणियों की बुद्धि जैसी चचल और मुण्डे-मुण्डे भिन्न वस्तु के भरोसे नहीं छोड़ता। किस युग मे और किस प्रकार मनुष्यों ने समाज-रक्षा के लिए एक-दूसरे की सहायता करने की गोष्ठी की होगी, यह समाज-शास्त्र के बहुत से वक्ता ही जानते होगे। यदि परस्पर सहायता की प्रवृत्ति पुरुषो की उस पुरानी पचायत ही के कारण होती और यदि उसका उद्देश्य वहीं तक होता जहाँ तक ये समाज-शास्त्र के वक्ता बतलाते है तो हमारी दया मोटे मुस्टडे और समर्थ लोगो पर जितनी होती उतनी दीन, अशक्त और अपाहिज लोगो पर नही, जिनसे समाज को उतना लाभ नहीं। पर इसका बिलकुल उलटा देखने मे आता है। दुखी व्यक्ति जितना ही अधिक असहाय और असमर्थ होगा उतनी ही अधिक उसके प्रति हमारी करुणा होगी। एक अनाथ अबला को मार खाते देखकर

हमे जितनी करुणा होगी उतनी एक सिपाही या पहलवान को पिटते देखकर नहीं। इससे स्पष्ट है कि परस्पर साहाय्य के जो व्यापक उद्देश्य है उनका धारण करने वाला मनुष्य का छोटा-सा अन्त करण नहीं, विश्वात्मा है।

दूसरो के, विशेषत अपने परिचितो के, क्लेश या करुणा पर जो वेगरहित दु ख होता है उसे सहानुभूति कहते है। शिष्टाचार मे अब इस शब्द का प्रयोग इतना अधिक होने लगा है कि यह निकम्मा-सा हो गया है। अब प्राय. इस शब्द से हृदय का कोई सच्चा भाव नहीं समझा जाता है। सहानुभूति के तार, सहानुभूति की चिट्ठियाँ लोग यो ही भेजा करते है। यह छद्म शिष्टता मनुष्य के व्यवहार-क्षेत्र मे घुसकर सचाई को चरती चली जा रही है।

करुणा अपना बीज लक्ष्य मे नहीं फेकती अर्थात् जिस पर करुणा की जाती है वह बदले मे करुणा करने वाले पर भी करुणा नहीं करता—जैसा कि क्रोध और प्रेम मे होता है—बल्कि कृतज्ञता, श्रद्धा या प्रीति करता है। बहुत सी औपन्यासिक कथाओं मे यह बात दिखलाई गई कि युवतियाँ दुष्टो के हाथ से अपना उद्धार करने वाले युवको के प्रेम मे फँस गई है। उद्वेगशील बगला उपन्यास-लेखक करुणा और प्रीति के मेल से बड़े ही प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करते है।

मनुष्य के प्रत्यक्ष ज्ञान मे देश और काल की परिमिति अत्यंत संकुचित होती है। मनुष्य जिस वस्तु को जिस समय और जिस स्थान पर देखता है उसकी उसी समय और उसी स्थान की अवस्था का अनुभव उसे होता है। पर स्मृति, अनुमान या उपलब्ध ज्ञान के सहारे मनुष्य का ज्ञान इस परिमिति को लाँघता हुआ अपना देश और काल-सबधी विस्तार बढ़ाता है। उपस्थित विषय के सबध मे उपयुक्त भाव प्राप्त करने के लिए यह विस्तार कभी-कभी आवश्यक होता है। मनोवेगों की उपयुक्तता कभी-कभी इस विस्तार

पर निभर रहती है। किसी मार खाते हुए अपराधी के विलाप पर हमे दया आती है, पर जब सुनते हैं कि कई स्थानो पर कई बार वह बडे-बडे अपराध कर चुका है, इससे आगे भी ऐसे ही अत्याचार करेगा तब हमे अपनी दया की अनुपयुक्तता मालूम हो जाती है। ऊपर कहा जा चुका है कि स्मृति और अनुमान आदि केवल मनोवेगों के सहायक है अर्थात् प्रकारान्तर से वे मनोवेगों के लिए विषय उपस्थित करते हैं। ये कभी तो आप-से-आप विषयों को मन के सामने लाते है, कभी किसी विषय के सामने आने पर ये उससे सम्बन्ध (पूर्वापर वा कार्य-कारण-सम्बन्ध) रखने वाले और बहुत से विषय उपस्थित करते है जो कभी तो सब-के-सब एक ही मनोवेग के विषय होते है और उस प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न मनोवेग को तीव्र करते है, कभी भिन्न-भिन्न मनोवेगो के विषय होकर प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न मनोवेगो को परिवर्तित वा धीमा करते है। इससे यह स्पष्ट है कि मनोवेग वा प्रवृत्ति की मन्द करने वाली स्मृति, अनुमान वा बुद्धि आदि कोई दूसरी अत करण-वृत्ति नहीं है, मन की रागात्मिका क्रिया या अवस्था ही है।

मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति ही मे है। नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोवेगो को दूर करने का उपदेश घोर पाखड है। इस विषय मे कवियो का प्रयत्न ही सच्चा है जो मनोविकारों पर सान ही नहीं चढाते बल्कि उन्हे परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त सम्बन्ध-निर्वाह पर ज़ोर देते है। यदि मनोवेग न हों तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि के रहते हुए भी मनुष्य बिलकुल जड है। प्रचलित सभ्यता और जीवन की कठिनता से मनुष्य अपने इन मनोवेगों को मारने और अशक्त करने पर विवश होता जाता है, इनका पूर्ण और सच्चा निर्वाह उसके लिए कठिन होता जाता है और इस प्रकार उसके

जीवन का स्वाद निकलता जाता है। वन, नदी, पर्वत आदि को देखकर आनन्दित होने के लिए अब उसके हृदय मे उतनी जगह नहीं। दुराचार पर उसे क्रोध वा घृणा होती है, पर झूठे शिष्टाचार के अनुसार उसे दुराचारी की भी मुँह पर प्रशसा करनी पड़ती है। जीवन-निर्वाह की कठिनता से उत्पन्न स्वार्थ के कारण उसे दूसरे के दु'ख की ओर ध्यान देने, उस पर दया करने और उसके दु ख की निवृत्ति का सुख प्राप्त करने की फुरसत नहीं। इस प्रकार मनुष्य हृदय को दबाकर केवल क्रूर आवश्यकता और कृत्रिम नियमो के अनुसार ही चलने पर विवश और कठपुतली-सा जड़ होता जाता है—उसकी भावुकता का नाश होता जाता है। पाखडी लोग मनोवेगो का सच्चा निर्वाह न देख, हताश हो मुँह बना-बनाकर कहने लगे हैं—"करुणा छोडो, प्रेम छोडो, क्रोध छोडो, आनन्द छोड़ो। बस, हाथ-पैर हिलाओ, काम करो।"

यह ठीक है कि मनोवेग उत्पन्न होना और बात है और मनोवेग के अनुसार क्रिया करना और बात, पर अनुसारी परिणाम के निरन्तर अभाव से मनोवेगो का अभ्यास भी घटने लगता है। यदि कोई मनुष्य आवश्यकतावश कोई निष्ठुर कार्य अपने ऊपर ले ले तो पहले दो-चार बार उसे दया उत्पन्न होगी, पर जब बार-बार दया का कोई अनुसारी परिणाम वह उपस्थित न कर सकेगा तब धीरे-धीरे उसका दया का अभ्यास कम होने लगेगा।

बहुत से ऐसे अवसर आ पड़ते हैं जिनमे करुणा आदि मनोवेगों के अनुसार काम नहीं किया जा सकता, पर ऐसे अवसरो की सख्या का बहुत बढना ठीक नहीं है। जीवन में मनोवेगो के अनुसार परिणाम का विरोध प्राय तीन वस्तुओ मे होता है—(१) आवश्यकता, (२) नियम और (३) न्याय। हमारा कोई नौकर बहुत बूढ़ा और कार्य करने मे अशक्त हो गया है जिससे हमारे काम मे हर्ज होता है। हमे उसकी अवस्था पर दया हो आती है, पर

आवश्यकता के अनुरोध से उसे अलग करना पड़ता है। किसी दुष्ट अफ़सर के कुवाक्य पर क्रोध तो आता है पर मातहत लोग आवश्यकता-वश उस क्रोध के अनुसार कार्य करने की कौन कहे उसका चिह्न तक नहीं प्रकट होने देते। अब नियम को लीजिए। यदि कहीं पर यह नियम है कि इतना रुपया देकर लोग कोई कार्य करने पाएँ तो जो व्यक्ति रुपया वसूल करने पर नियुक्त होगा वह किसी ऐसे अकिंचन को देखकर, जिसके पास एक पैसा भी होगा, दया तो करेगा, पर नियम के वशीभूत हो उसे वह उस कार्य को करने से रोकेगा। राजा हरिश्चन्द्र ने अपनी रानी शैव्या से ही मृत पुत्र के कफ़न का टुकडा फडवाकर नियम का अद्भुत पालन किया था। पर यह समझ रखना चाहिए कि यदि शैव्या के स्थान पर कोई दूसरी दुखिया स्त्री होती तो राजा हरिश्चन्द्र के उस नियम-पालन का उतना महत्त्व न दिखाई पड़ता, करुणा ही लोगों की श्रद्धा को अपनी ओर अधिक खींचती है। करुणा का विषय दूसरे का दु ख है, अपना दुःख नहीं। आत्मीय जनो का दुःख एक प्रकार से अपना ही दु ख है, उससे राजा हरिश्चन्द्र के नियम-पालन का जितना स्वार्थ से विरोध था उतना करुणा से नहीं।

न्याय और करुणा का विरोध प्राय. सुनने मे आता है। न्याय से उपयुक्त प्रतिकार का भाव समझा जाता है। यदि किसी ने हमसे १०००) उधार लिये तो न्याय यह है कि वह १०००) लौटा दे। यदि किसी ने कोई अपराध किया तो न्याय यह है कि उसको दण्ड मिले। यदि १०००) लेने के उपरान्त उस व्यक्ति पर कोई आपत्ति पडी और उसकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई तो न्याय पालने के विचार का विरोध करुणा कर सकती है। इसी प्रकार यदि अपराधी मनुष्य बहुत रोता-गिडगिडाता है, कान पकड़ता है और पूर्ण दण्ड की अवस्था मे अपने परिवार की घोर दुर्दशा का वर्णन करता है तो न्याय के पूर्ण निर्वाह का विरोध करुणा कर

सकती है। ऐसी अवस्थाओं मे करुणा करने का सारा अधिकार विपक्षी अर्थात् जिसका रुपया चाहिए या जिसका अपराध किया गया है उसको है, न्यायकर्ता या तीसरे व्यक्ति को नहीं। जिसने अपनी कमाई के १०००) अलग किये, या अपराध द्वारा जो क्षति-ग्रस्त हुआ, विश्वात्मा उसी के हाथ मे करुणा जैसी उच्च सद्‌वृत्ति के पालन का शुभ अवसर देता है। करुणा सेंत का सौदा नहीं है। यदि न्यायकर्ता मे करुणा है तो वह उसकी शान्ति पृथक् रूप से कर सकता है, जैसे ऊपर लिखे मामलो मे वह चाहे तो दुखिया ऋणी को हजार-पॉचसौ अपने पास से दे दे या दण्डित व्यक्ति तथा उसके परिवार की अन्य प्रकार से सहायता कर दे। उसके लिए भी करुणा का द्वार खुला है।

• १७ •

धीर

(राय कृष्णदास)

जो धीर हैं, जो उद्वेगरहित है, वही संसार में कुछ कर सकते है। जो लोहे की चादर की भाँति जरा ही मे गरम और जरा ही मे ठण्डे पड जाते है, उनके किये क्या हो सकता है ? मसल है—"जो बादल गरजते है, वे बरसते नहीं।"

धीर पुरुष का मन समुद्र के समान होता है। वह गम्भीर और अथाह होता है। समुद्र की तरह मर्यादा-पालन में उसकी यह दशा है कि आनन्द और ऐश्वर्य रूपी अनेक नद-नदियाँ उसमें गिरती है, पर क्या मजाल जो वह जरा भी मर्यादा का उल्लघन करे। उसकी परिपूर्णता को देखिए—ताप रूपी सूर्य दिन-रात उसे तपाया करते है। यही नहीं, चिन्ता रूपी विचार-बडवाग्नि दिन-रात उसमे जला करती है, पर उसमे जरा भी कमी नहीं होती। साथ ही, जिस समय उसमे कोई तूफान आ जाता है उस समय किसकी मजाल है जो उसे रोक सके। यह नहीं कि इधर पानी बरसा, उधर पहाडी नदी उबल पडी, बीच मे हाथी भी पडा तो बह चला, पर थोडी देर में पानी नदारद, हाथी ज्यों-का त्यों बच गया।

एक बडा दार्शनिक कहता है—"चाहे युद्ध हो, चाहे मरण ही क्यों न हो, जिसका मन ऐसे समयों में भी हिमाचल की तरह

अचल रहता है, वही धीर है।" अहा, कितनी अच्छी परिभाषा है! सचमुच, जिसका मन जरा से सुख या दु:ख से उद्विग्न हो गया, वह क्या कर सकेगा? कैसा ही समय क्यो न आ पडे, कैसी ही भारी बात क्यो न हो जाय, जिस पुरुष का मन निश्चल रहता है—जिसका मन बाल-भर भी नहीं डिगता—वही काल चक्र की गति को बदल सकता है, वही ससार के वीरो मे गिना जाता है और वही ससार मे कुछ कर गुजरता है। उसी का नाम सारी जाति सच्चे आदर से लेती है, उसी का नाम इतिहासो मे अजरामर हो जाता है।

एक बार नेपोलियन से, जब वह यूरोप फतह कर रहा था, किसी ने कहा—"महाराज, आल्प्स (पर्वत) सामने खड़ा है, सेना क्योंकर उसके दूसरी ओर जायगी?" उस धीर के मन मे जरा भी उद्वेग न हुआ। उसने जवाब दिया—"हॉ, ऐसी बात है। आल्प्स को भी मालूम हो जायगा कि नेपोलियन इधर से ही गया।" आदेश हुआ—"आल्प्स न रह जाय।" धीर का आदेश भला कहीं टल सकता था। यह तो था नहीं कि कभी यह बात, कभी वह बात। वहॉ तो जबान से जो निकला, सो निकला। बस, आल्प्स नहीं रह गया।

मानसिंह ने बरसात के दिनो मे काबुल पर चढ़ाई की। अटक (सिन्धु) खूब चढ़ी हुई थी। पार करने के लिए कोई पुल न था। साथ ही कुछ लोगो ने कहा कि अटक पार जाना शास्त्र-सम्मत नहीं, पर क्या इससे प्रशान्तसागर-सदृश मान डावॉडोल हो सकता था? पर्वत भी प्रलय-वायु से हिल जाते है, पर निश्चल मन कभी नहीं हिलता। निदान मान ने कहा

"सबै भूमि गोपाल की या मे अटक कहा।
जाके मन मे अटक है सोई अटक रहा॥"

ज़रा इस पद्य के दूसरे चरण पर ध्यान दीजिए। देखिए, कैसा

विलक्षण भाव टपक रहा है। अस्तु, मान ने अपना घोडा सिन्धु मे डाल दिया। कहते है, सिन्धु नदी उतर गई और घुटनो तक ही पानी रह गया। आखिर तो बरसात मे बढ़ी हुई नदी थी न! धीर के उज्ज्वल उदाहरण मान के सामने भला वह कब ठहर सकती थी? याद रखिए, यदि मान मे इतना धैर्य न होता तो वह ऐसे दुर्जय स्थान को जीत न सकता।

बाबर जब इब्राहीम लोधी पर चढाई कर रहा था, तब उससे एक नजूमी ने कहा कि सामने मगल है। आप चढाई न करिए नहीं तो हार जायँगे। पर इससे क्या होने को था! यदि वह धीर ऐसी बातो से डर जाता तो भला भारत मे इतना बडा मुगल-राज्य स्थापित कर सकता? अस्तु उसने चढाई आरम्भ कर दी। उसमे उसी की जीत हुई।

महाराज प्रतापसिंह को सत्ताईस बरस तक कैसे कैसे कष्ट उठाने पडे, क्या-क्या विपत्तियाँ उन पर नहीं आईं, क्या-क्या दु ख उन्हे नहीं उठाने पडे, पर क्या इससे धीर का स्वरूप बदल सकता था? भला, कड़ी-से-कडी धूप से तप्त होकर भी बरफ कहीं शीतलता छोड सकता है। एक कवि कहता है :

"कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्ते र्न शक्यते धैर्यगुण. प्रमाष्टुं म्।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्ने र्नाधःशिखा याति कदाचिदेव॥"

अर्थात्—धीर पर दुःख पडने से उसका धैर्य-गुण थोडे ही दूर हो सकता है। जलती आग को यदि उलट दीजिए तो भी उसकी शिखा ऊपर ही को जायगी, नीचे को नहीं।

धीर का प्रधान लक्षण :

"जलाहतौ विशेषेण विद्युदग्नेरिव द्युति.।
आपदि स्फुरति प्रज्ञा यस्य धीरः स एव हि॥"

—कथा-सरित्सागर

अर्थात्—जलाहत विद्युदग्नि के समान विपत्ति मे जिसकी प्रज्ञा की द्युति बढती जाती है, वही धीर है।

कैसी पते की उक्ति है! प्रताप का धैर्य उन विपत्तियो से दिन-दिन बढ़ता ही गया। जैसे-जैसे उन्हे कष्ट झेलना पडा, जैसे-जैसे उनकी उलझने जटिल होती गई, वैसे-ही-वैसे उनके धैर्य की जड मजबूत होती गई। धैर्य रूपी वृक्ष की विपत्ति ही खाद है, वही धैर्य की कसौटी है। तभी गुसाई जी कहते है

"धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
आपत काल परखिए चारी॥"

यो, सुख मे तो धीरता का अभिनय सभी कर सकते है। पर ससार के किसी अनर्थकारी कृत्य को देखकर यदि किसी धीर महात्मा का हृदय जल उठता है तो फिर क्या पूछना है, मानो बाकू के मिट्टी के तेल की खान मे आग लग गई, बिना उस अनर्थ का नाश किए वह जलन बुझने की नहीं। भला ब्रह्मास्त्र भी कहीं बेकार जा सकता है। जरा एक दृश्य इस तरह का भी देखिए।

हजरत ईसा मसीह ने जिस समय जेरुसलम मे जन्म लिया उस समय वहाँ की क्या दशा थी, यह इतिहास-प्रेमियों को अविदित नहीं। चारो ओर अधर्म फैल रहा था, चारो ओर अनर्थ और अविद्या का प्राबल्य था, सज्जन कष्ट मे पड़े हुए थे, दुर्जनो की उन्नति हो रही थी। इस अँधेरे को देखकर उस महात्मा का जी जल उठा। उसे यह सब असह्य होने लगा। बस फिर क्या था? उस धीर ने इस अधर्म-चक्र की गति को उलटने की ठान ली। इस गति को फेरना शुरू कर दिया। दुरात्माओं को मालूम हो गया कि कोई अलौकिक शक्ति काम कर रही है। अनेक विरोधी खडे हो गए। उन लोगो ने चाहा कि पाप-चक्र की गति न रुकने पाए, वह ज्यो-की-त्यो बनी रहे। लाख-लाख उद्योग किये गए, पर उन सबसे क्या हो सका था? जो स्वय अधीर है, जो

खुद ही चचल है, जिनका मन सदा ही सरपट दौडा करता है, भला उनकी क्या मजाल जो संसार-चक्र की गति के बदलने को रोक सके। पहले वे अपने मन-चक्र का तो निग्रह कर ले, फिर ससार-चक्र का निग्रह करेंगे। अस्तु, ऐसे ही दुर्जनों ने ईसा के आन्दोलन को रोकना चाहा। धैर्य का अधीरता मे जीतना चाहा। इसका नतीजा क्या हुआ? अधर्म से धर्म की जीत न हो सकी। हॉ, थोडे दिन के लिए अधर्म, बल्कि यह कहिए कि पाप-चक्र की चाल और भी बढ गई—अत्याचार दिनो-दिन बढने लगे। पापियो ने सोचा, अब हमारी जीत हुई, मगर यह बात उन्हे न सूझी कि मरने के समय चींटों के पख निकल आया करते हैं। जब दीपक बुझने को होता है, तब उसका प्रकाश बढ़ जाता है। निदान अत्याचारो की बढ़ती यहॉ तक हुई कि हजरत धर्म-विद्रोही सिद्ध किये गए और उन्हे सूली पर चढ़ाने का शाही हुक्म हुआ। हरेक आदमी अपने मन से ससार को तोलता है। इस बादशाह ने भी ईसा को अपने मनोरूपी कॉटे से तोला, इसलिए वह अपने ही समान ईसा को भी अधीर समझ बैठा। उसे निश्चय था कि ईसा अब राह पर आ जायगा, मृत्यु का नाम सुनकर वह डर जायगा और ऊल-जलूल बकवाद छोड़कर चुप हो बैठेगा। पर भला धीर भी कहीं मृत्यु से डरते हैं! मृत्यु को तो वे फूल के हार की तरह ग्रहण करते है। आत्मबलि ही से तो उनके कार्य की सिद्धि होती है। ऐसे ही समय मे तो उन्हे सच्चे या झूठे होने का पता चलता है। ऐसे ही समय में दृढ रहने से तो उनकी उपाधि (धीर) सार्थक होती है। खैर, हजरत सूली पर चढ गए। उनके हाथ-पॉवो मे कीले ठोक दी गईं। बस पाप-चक्र का यहीं खात्मा हो गया। हजरत के हाथ-पॉवों में कीले नहीं ठोंकी गईं, बल्कि पाप-चक्र में कीले ठोंक दी गई। एक धीर के आत्मोत्सर्ग से दुनिया के एक तिमिराच्छन्न हिस्से में सत्य का प्रकाश हुआ, सत्य-सूर्य का उदय

हुआ। उसकी मृत्यु से एक मृत जाति जीवित हो उठी।

ससार के इतिहास मे धीरो के एक नहीं लाखो उदाहरण पाए जाते हैं। बिना धैर्य के अवलब के अनेक गुणो से बिभूषित रहने पर भी, लोग कुछ नहीं कर सके है। धैर्य सदाचरण की पहली सीढी है। बिना धैर्य के जगत् मे कोई भी सदाचार की—उन्नति की—सोपान-परम्परा पर नहीं चढ़ सकता।

जो अधीर हैं भला वे क्या कर लेगे। बरसाती नदी और शरत्कालीन बादलो की तरह, जिनके मन का रग पल-पल पर बद-लता है, क्या उनके किये भी कुछ हो सकता है? उनके मनोरथ कभी पूरे नहीं हो सकते। राई-सा दु.ख उन्हे पहाड़ सा प्रतीत होता है। उसे वे सह नहीं सकते। उनके कारण उन्हे अनेक आधि-व्याधियाँ घेर लेती हैं।

बिना धीर हुए, बडी-से-बडी आपत्तियो को झेलते हुए भी सुख एवं आरोग्यतापूर्वक लोक-यात्रा कोई पूरी नहीं कर सकता। बिना धीर हुए कोई ससार-समर को जीत नहीं सकता, संसार की या अपनी उन्नति नहीं कर सकता। सबका निष्कर्ष यह है कि जो धीर नहीं वह कुछ कर ही नहीं सकता, इसलिए ससार मे यदि कुछ करने की इच्छा हो तो धीर बनो।

• १८ •

हीन-भावना

(श्री कन्हैयालाल सहल)

आत्म-विश्वास की कमी ही हीन-भावनाओं को जन्म देती है। परीक्षणों द्वारा बहुत से मनोवैज्ञानिक इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि प्रौढ़ों मे करीब ७५ प्रतिशत व्यक्ति ऐसे मिल जाते हैं जिनको अपनी शक्ति मे विश्वास नहीं, जिनको इस बात का भी पता नहीं कि वे हीन-भावना के शिकार हो रहे है। आधुनिक मनोविज्ञान जब यह कहता है कि बहुत से मनुष्यों मे चेतन मन की अपेक्षा अवचेतन मन का अंश अधिक है और अवचेतन मन की अपेक्षा अचेतन मन का अश अधिक है तो साधारण पाठक चौंक उठता है। क्या इसका अभिप्राय यह है कि हममे से बहुत से ऐसे है जो अपने ही मन के बारे मे सबसे कम जानते है ? यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं कि दूसरे हमारे बारे मे अपेक्षाकृत अधिक जानकारी रखते है और हमे अपना ही पता न हो। मनो-विश्लेषण के आचार्य मानसिक रोगी को अचेतन मन का ज्ञान कराकर उसे रोग से मुक्ति दिला देते है। आत्म-ज्ञान-हीनता सबसे बडा रोग है जिससे अन्य अनेक विकार उत्पन्न हो जाते है। हमारी कुण्ठित इच्छाएँ ही अचेतन मन मे संचित होकर हीन-भावना जैसी ग्रन्थियो को जन्म देती है। आकांक्षाओ को अगर तुष्टि का स्वाभाविक मार्ग मिलता रहे तो जीवन के सामाजिक प्रवाह मे इतने

राड़े इकट्ठे न हो। बन्द तालाब का पानी सडने लगता है, अनाविल रहने के लिए पानी को उन्मुक्त होकर बहने की आवश्यकता है।

हीन-भावना का उद्गम प्राय बाल्यावस्था में ही देखा जाता है। ज्ञान की कमी, चातुर्य का अभाव, अग विकार आदि अनेक कारणो से बालक हीन-भाव-का अनुभव करने लगता है। कभी-कभी विकृतियो के दूर हो जाने पर हीन-भावना भी विदा हो जाती है, किन्तु कुछ मनुष्य ऐसे होते है जो ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी अपने को अयोग्य ही समझते है। स्कूलों का निरीक्षण करते हुए मैंने देखा है कि अनेक अवसरो पर योग्य अध्यापक भी कॉप उठता है। वह यह समझने ही नहीं पाता कि इन्स्पेक्टर ही सर्वज्ञ नहीं होता। ज्ञान के अभाव मे भयभीत होना समझ मे आ सकता है, किन्तु सुयोग्य होते हुए भी लडखड़ा जाना आत्महीनता का ही द्योतक है।

आत्म-हीनता के इस रोग पर कैसे विजय पाई जाय ? यह प्रश्न सहज ही उठाया जा सकता है। सबसे पहली आवश्यकता तो इस बात की है कि हम अपनी शक्तियो की नाप-जोख करे, किन्तु ऐसा करने मे एक बात का खतरा रह सकता है। कभी-कभी सर्वोत्कृष्ट व्यक्ति से अपनी तुलना करके हम अपने मे गुणो के अभाव का अनुभव करने लगते है। किन्तु ऐसा करना अपने प्रति अन्याय करना है क्योकि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक काम मे सर्वोत्कृष्ट नहीं हो सकता। यदि हम औसत व्यक्ति से अपनी तुलना करे तो बहुत सी ऐसी बाते मिल सकती है जिनमे हम उसे मात कर सकते हैं। कम-से-कम इतना तो आश्वासन हमे मिल ही सकता है कि हम बहुतो से उत्कृष्ट है। इसके विपरीत ऐसी बाते भी निकल सकती है जिनमे औसत व्यक्ति हमसे बढा हुआ हो। ऐसी अवस्था मे हमारा कर्तव्य है कि अपनी कमियो को, अपनी अपूर्णताओ को समझे और उनको दूर करने का प्रयत्न करे।

बहुत अशो मे मनुष्य स्वय ही अपना शत्रु तथा अपना मित्र होता है। 'मुझमें अमुक कमी है, मुझमे अमुक हीनता है,' निरन्तर इसकी रट लगाये रहने मे तो वह आत्म-विश्वास सर्वथा खो बैठता है। किन्तु यदि उसकी प्रसुप्त आत्म-चेतना जागृत हो उठे, उसको यह भान होने लगे कि वह भी कुछ कर सकता है तो इसमे कोई सन्देह नहीं कि प्रगति के पथ पर वह एक कदम आगे बढ गया है। हनुमान् के लिए तो यह प्रसिद्ध है कि उनको बल का स्मरण कराने पर उनमे सैकड़ों गुना बल आ जाता था। मनु के यह कहने पर,

"किन्तु जीवन कितना निरुपाय !
लिया है देख नहीं सन्देह ।।
निराशा है जिसका परिणाम
सफलता का यह कल्पित गेह ।।"

श्रद्धा ने जो उत्तर दिया था वह आज भी स्फूर्तिदायक सिद्ध हो सकता है

"और यह क्या तुम सुनते नहीं
विधाता का मगल वरदान ।।
'शक्तिशाली हो विजयी बनो'
विश्व मे गूँज रहा जय-गान ।।
डरो मत अरे अमृत सन्तान
× × ×
प्रकृति के यौवन का शृङ्गार
करेगे कभी न बासी फूल।" (कामायनी)

हीन-भावना से मुक्त होने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य का मस्तिष्क अच्छी तरह काम करने लगे। वह भले-बुरे में अन्तर मालूम करे और अपनी मनोवृत्तियो मे सामजस्य स्थापित कर सके।

सुन्दर स्वस्थ शरीर भी हीन-भाव को दूर करने मे सहायक

होता है। शारीरिक सौंदर्य भले ही न हो, स्वास्थ्यगत सौंदर्य तो हम मे होना ही चाहिए और सच्चे अर्थ मे तो स्वास्थ्य ही सौन्दर्य है। हीन-भाव की पूर्ति के लिए अनेक उपाय काम मे लाये जाते है। आँखों मे फोला पड़ जाने पर चश्मा लगाना, होठ कट जाने पर मूँछ बढाना, ठुड्डी पर कुष्ठ के चिह्न प्रकट हो जाने पर दाढी बढाना—सभी क्षति-पूर्ति के प्रयास है।

हीन-भाव को दूर करने के लिए एक आवश्यक उपाय यह भी है कि जो मनुष्य आत्म-विश्वास की कमी के कारण कभी किसी काम मे सफल हुआ ही नहीं, उसके लिए ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करनी चाहिए जिसमे सफलता निश्चित हो जाय। एक बार सफलता के स्वाद का अनुभव कर लेने पर वह अनायास दूसरी सफलता के लिए उद्यत हो जाता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि ऐसा काम उठाया जाय जो व्यावहारिक हो, उसके बल-बूते का हो जिससे उसे निराशा का सामना न करना पड़े। कोरे आदर्शवाद की परिणति प्राय निराशा मे देखी जाती है। यथार्थ का बल न मिलने पर आदर्शवाद पगु रह जाता है।

हीन-भाव को दूर करने की रामबाण औषध यह है कि हम अपनी सीमाओ को समझें। आसमान के तारे तोड़ना हमारे लिए सभव न हो तो इस पृथ्वी पर ही दौड-धूप करके हम अपनी हविस पूरी कर ले, असम्भव के पीछे दौड़कर तो हम अपने रोग की वृद्धि ही करेगे, दूसरा हमसे विशिष्ट है, होगा, इससे हमे क्या? सामर्थ्य हो तो हम भी आत्म-विकास करके उच्चासन पर पहुँच जायँ। यदि यह सम्भव न हो तो अन्य किसी उपयुक्त क्षेत्र को चुनकर हम अपनी विशेषताओ का परिचय दे। केवल मन की जाली फेककर चाँद को धरती पर तो नहीं उतारा जा सकता। और फिर एक मनुष्य के पास हर एक वस्तु आएगी भी कहाँ से और कैसे?

श्री मैथिलीशरण गुप्त ने ठीक ही कहा है

"कमल तुम्हारा दिन है,
और कुमुद यामिनी तुम्हारी है।
कोई हताश क्यों हो?
आती सबकी समान बारी है।
धन्य कुमुद, दिन जिसके,
धन्य कमल रात साथ मे जिसके,
दिन और रात दोनों,
होते है हाय हाथ मे किसके?"

अमृत-सन्तान मानव को अवसाद कभी शोभा नहीं देता। हार मानकर बैठ जाना मनुष्य के लिए सबसे बडी लज्जा की बात है। भारतीय ऋषियो, दार्शनिको और सतो तथा चण्डीदास, पन्त आदि कवियो ने मानव की महत्ता का उद्घोष किया है।

'चौदह भुवन जे तर उपराहीं।
ते सब मानुष के घट माहीं।'

—कहकर जायसी ने भी मानव का ही जय-जयकार किया है। मानव नामधारी होकर भी जो क्षुद्र हृदय-दौर्बल्य का परिचय दे तथा आत्म हीनता का अनुभव करे, वह कैसा मानव है?

• १६ •

कल्पना

(डॉक्टर सत्येन्द्र)

एक विद्यार्थी ने अपनी एक पाठ्य पुस्तक मे पढा 'कल्पना' मिथ्या का दूसरा नाम है। मिथ्या कवि के पास आकर कल्पना बन जाती है। दूसरे शब्दो मे पाठ्य-पुस्तक के उस निबन्ध-लेखक ने यह स्थापित कर दिया कि कल्पना मिथ्या अथवा असत्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, और तब आचार-शास्त्री ने यह निर्णय सुनाया कि कवि को कभी स्वर्ग नहीं मिल सकता।

"यह तो कोरी 'कल्पना' है' 'यथार्थवादी ने बलपूर्वक कहा। यथार्थ से परे ही है कल्पना, जब तक कल्पना 'कल्पना' है वह यथार्थ नहीं हो सकती। वह आदर्श हो सकती है—क्योंकि यथार्थ आदर्श से चिढ़ता है, वह आदर्श को ही यह नाम दे सकता है।

एक व्यवसायार्थी को व्यवसाय-पति ने यह कहकर अपने यहाँ से निकाल दिया कि 'तुममे कल्पना का अभाव है। कल्पना-हीन व्यक्ति व्यवसाय के अयोग्य है।' और वह कल्पना-हीन व्यवसायार्थी अपने अभाव को उन शब्दों मे आज तक नहीं समझ सका।

विधायक कल्पना वैज्ञानिक के लिए अनिवार्य है। विधायक कल्पना ने ही समस्त वैज्ञानिक शोधों को अग्रसर किया है और सफलता दिलाई है।

'कवि, प्रेमी, दार्शनिक और उन्मादी, सभी कल्पना-ग्रसित होते हैं'—ये शब्द शेक्सपियर ने अपने एक पात्र से कहलाये हैं।

'स्वर्ण पखो की परी! अयि कल्पने!' कवि ने कल्पना के मानसिक, सरस और रंजित साक्षात्कार से पुलकित और विभोर होकर लिख डाला।

कल्पना का मनोविज्ञान—कल्पना एक मानसिक व्यापार है। मस्तिष्क द्वारा मन कितने ही व्यापार सम्पादित करता है जिन्हे हम इस प्रकार समझ सकते हैं—

१—एक ओर यह 'जगत्' है, दूसरी ओर मानस है।

२—मानस ज्ञानेन्द्रियो द्वारा जगत् से सम्पर्क प्राप्त करता है।

३—यह प्रथम सम्पर्क 'इन्द्रिय-ज्ञान' होता है। चक्षु, कर्ण, घ्राण, जिह्वा तथा त्वचा जगत् का जो प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करते है और जिससे पूर्व किसी अनुभव का सहयोग नहीं होता, वह इन्द्रिय ज्ञान है। इन्द्रिय-ज्ञान वस्तुत ज्ञान की सीमा को छूता है।

४—इन्द्रिय-ज्ञान मानस के स्मृति-कोष में समा जाता है।

५—पुनः इन्द्रिय-ज्ञान होने पर पिछले स्मरण के सहयोग से कुछ समझने योग्य रूप तैयार होता है। यह परिज्ञान है।

६—इस प्रकार का परिज्ञान पुनः-पुन समृद्ध होता जाता है। पुराने अनुभव, नये अनुभव, इनसे बने विविध रूप, ये सब 'ज्ञान' हो जाते है। मनुष्य जानकार अथवा ज्ञानवान कहा जाने लगता है। प्रत्येक ज्ञान की पृष्ठभूमि स्मृति होती है और नया अनुभव उसे उद्वेलित करता रहता है।

७—ज्ञान-ग्रहण तक शुद्ध 'सत्' का भाव रहता है। जो कुछ भी सामने आता है, इन्द्रियाँ ग्रहण करती जाती हैं। वह मानस-कोष मे एकत्र होता जाता है।

८—ज्ञान-सम्पादन मे मस्तिष्क में तीन प्रक्रियाएं होती हैं—

(अ) इन्द्रिय ज्ञान से प्राप्त अनुभव सामग्री ।

(आ) परिज्ञान से उद्‌मुदित तुलनात्मक चेतना स्वय प्रेरित (Instinctive) होती है, अत मात्र 'सत्' अथवा 'जड़' की ही एक गति है ।

(इ) बोध, सामग्री तथा तुलना से सहज ही कोई निष्कर्ष उपलब्ध हो जाता है । यह रूपात्मक हो सकता है अथवा केवल सूक्ष्म भाव सम्बन्धी हो सकता है ।

९—अतः ज्ञान-सम्पादन की क्रिया से स्वयमेव एक चेतना तथा बोध का उदय होता है । इनसे मनुष्य के 'स्व' का निर्माण होता है, और 'पर' से भेद स्पष्ट होने लगता है ।

१०—प्रकृतिदत्त आत्म-निर्माण और आत्म-रक्षा की सहजात प्रवृत्ति इस 'स्व' को और अधिक पुष्ट करती है—तुलना और बोध मे 'स्व' का मूल केन्द्र 'स्व' की दृष्टि से ग्राह्य और अग्राह्य की भावना को जन्म देता है—यही भावना विशेष गतिवान होकर 'बुद्धि' का रूप ग्रहण कर लेती है । यह बुद्धि तुलना और बोध से बहुत काम लेती है और वस्तु के नाम रूप से भी सूक्ष्म भावों को जागृत करने का कारण बन जाती है ।

११—बुद्धि की गति को 'विचार' कहते हैं, क्योंकि 'स्व' की दृष्टि से निबद्ध 'बुद्धि' 'स्व' और 'पर' का भेद प्रत्येक ज्ञान मे स्थापित करना चाहती है । ये 'स्व' और 'पर' प्रश्न रूप मे उसके समक्ष खड़े होते है, प्रश्न अपने साथ 'विचार' लाता है ।

१२—मनुष्य मे जहाँ आत्म-निर्माण और आत्म-रक्षा की सहजात भावना है, वहीं आत्म-समर्पण अथवा तादात्म्य का भी भाव सहजात है । विचार 'स्व' 'पर' के चिन्तन मे मग्न कभी दोनो को भिन्न कभी अभिन्न देखता है । वह यह चाहता है कि

दोनों स्वरूप स्थिर रहे—क्या किसका है इसे वह निश्चय नहीं कर सकता, तब विवेक का उद्भव होता है। विचार जहाँ तुलना का चेतन रूप है, विवेक बोध का चेतन रूप है। विचार और विवेक से 'चित्त' अथवा चैतन्य की वृत्ति पूर्ण बलवती होने लगती है।

१३—बलवती चेतना मे बडी गति और चचलता रहती है। यह उदय होकर मानस और मस्तिष्क की प्रत्येक प्रवृत्ति पर शासन जमाती है और प्रेरणा देती है। यही चेतना इसलिए व्यग्र रहती है कि आत्म-साक्षात्कार किया जाय—यह अपनी गति और व्यग्रता से उपलब्ध सामग्री से अपनी मौलिक चाह के सन्तोष के निमित्त स्वय कितने ही रूपो का निर्माण करने के लिए प्रवृत्त होती है। यही आनन्द के लिए उत्कण्ठित होती है। चेतना का यह आत्म-रूप उद्योग ही कल्पना कहलाता है। यह कल्पना ही चेतना का यथार्थ लक्षण है। इसी की जब ऊर्ध्व गति होती है तब आनन्द की अनुभूति हो पाती है। यहीं, इसी के द्वारा मनुष्य अपने व्यक्तित्व को खड़ा कर सकता है, यहीं वह कुछ सृजन करने का दावा कर सकता है।

१४—चित्त की तीसरी वृत्ति कल्पना ही सृजनभाव का उद्रेक कर 'मनुष्य' के अहंकार को अवस्थित करती है।

इस विवेचन से 'कल्पना' का मनोवैज्ञानिक रूप स्थिर होता है। भारतीय ऋषियो ने समस्त सृष्टि मे तीन स्थितियों की परि-कल्पना की। उन्होने उन तीनो के द्वारा ही ब्रह्म-सृष्ट के विराट तथा सृष्टि के मूल का नामकरण करके उसे 'सच्चिदानन्द' कहा—सत्, चित् और आनन्द। मानसिक क्षेत्र मे शोध से ज्ञात होता है कि कुछ मानसिक वृत्तियाँ केवल सत् हैं—मन और बुद्धि तक हम 'सत्' मान सकते है, कारण यह है कि ये वृत्तियाँ शरीर के अन्य आवश्यक धर्मों की भाँति शारीरिक सत्ता से सम्बद्ध है, इनमे स्वय कर्तृत्व न होकर ग्राहक शक्ति विशेष है। भारतीय दार्शनिकों ने

इसीलिए मन तथा बुद्धि के उपरान्त 'चित्त' को माना। 'चित्त' ही मनुष्य की 'चेतन-वृत्ति' है। यही मनुष्य को विचार, विवेक और कल्पना से युक्त करती है, विचार और विवेक तक मनुष्य का चेतन-मानस पदार्थ की जड़ सीमाओं से घिरा रहता है। कल्पना के लिए जड़-जगत् से अतिरिक्त चेतन-जगत् की सत्ता भी है।

और इसी चेतन-जगत् अथवा सत्ता की शक्ति और कर्तृत्व को कल्पना प्रकट करना चाहती है—वह स्वय निर्माण मे प्रवृत्त होना चाहती है, जो सामग्री ज्ञान-राशि के रूप में उसे प्राप्त है उसका वह स्वच्छन्दतापूर्वक उपयोग करना चाहती है, वह बन्धनो को बन्धन-रूप मे ग्रहण नहीं कर सकती। चित्त की यही वृत्ति है जो मानस-क्षेत्र मे 'अहकार' को उभारती है और आध्यात्मिक क्षेत्र मे आनन्द की शोध करती है और आनन्द को मिलाती है। यहीं हम यह समझ सकते है कि मनुष्य के विकास और उसके जीवन को सजीव बनाने के लिए कल्पना अनिवार्य है।

किन्तु मनोविज्ञान की दृष्टि से केवल मानसिक वृत्तियो का निरूपण ही पर्याप्त नहीं होता। भाव भी एक आवश्यक तत्त्व है, और उसे मनोविज्ञान मे महत्त्व प्राप्त है। भावो मे आरम्भिक स्थान औत्सुक्य अथवा उत्कण्ठा का होना चाहिए। ज्ञान अथवा अनुभव-सम्पादन के लिए इसके बिना तत्परता नहीं हो सकती। दूसरा स्थान भावो का है—भावोपरान्त 'राग'। यही 'राग' रस और अलौकिक आनन्द मे परिणति पा लेता है। मन का सम्बन्ध उत्कण्ठा से होगा, बुद्धि का स्वार्थ-श्रेय से, 'स्व' से, चित्त की 'विचार' वृत्ति का भाव से, विवेक का विराग से और कल्पना का 'राग' से। इस दृष्टि से कल्पना मन और भाव दोनो से 'आनन्द' के लिए मानव को प्रस्तुत कर देती है।

कल्पना और आनन्द—कल्पना मनुष्य के ज्ञान और अनुभव

की सामग्री से मनचाहे रूप प्रस्तुत करती है। ऐसा करने में कल्पना एक पावन आध्यात्मिक कर्म करती है। वह ऐसे रूप गढती है जो 'स्व' के होते हुए भी 'पर' के हो जाते है और 'पर' के होकर भी 'स्व' के होने का दावा करते है। कल्पना ही 'स्व' और 'पर' के बीच की भित्ति को ढहा देती है। यह 'स्व' का 'पर' मे और 'पर' का 'स्व' मे तादात्म्य और समाहार कर देती है। यही साधारणीकरण का व्यापार है। यह बिना कल्पना के सम्भव नहीं। 'स्व' और 'पर' के तादात्म्य और समाहार का एक अर्थ है 'अह' का 'परम' मे विलीन हो जाना। कल्पना चित्त अथवा चेतन की सबसे प्रधान और प्रमुख वृत्ति है, सब वृत्तियो से ऊपर, अपने सृजनशील चमत्कार से सभी वृत्तियों को अभिभूत कर लेती है—'कल्पना' मे मानव के मानस-व्यक्तित्व का सम्पूर्णत्व प्रतिष्ठित हो जाता है और मानव मे जो विधायक मौलिक वृत्ति है, उसका उत्कर्ष हो उठता है। इन दोनो से ही मानव का निजी व्यक्तित्व और उसका मोह व्युत्पन्न होता है, यही 'अहं' की स्थिति है और इसकी मानव अनुभूति 'अहकार'। 'अहकार' मे समस्त व्यक्ति समा जाता है। उधर 'अहं' से अतिरिक्त, मानव के निजी व्यक्तित्व से बाहर, जो 'पर' की पराकाष्ठा है यह तत्त्व 'परम-तत्त्व' है। व्यष्टि का चरम 'अह'—समष्टि का चरम 'परम'। व्यष्टि का चरम 'अह' जिस प्रकार मन बुद्धि के सत् पर आरूढ़ चित्त के उत्कृष्ट-करण पर प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार सृष्टि का—समष्टि का 'परम' भी प्रकृति के सत् और पुरुष के चित्त के ऊपर 'आनन्द' है, नीचे निरानन्द। सत की भूमि निरानन्द है, वह तो मात्र धर्म से धारण की हुई है—कर्तृत्व और निर्माण मे जो 'अहं पर' की अभिव्यक्ति का 'आनन्द' है वहाँ नहीं। अत 'अह' व्यष्टि के 'आनन्द' का पर्याय है—जो सत् व्यापी मन—बुद्धि से उपार्जित सस्कार—परिभाषाओं से आवृत्त है। कल्पना मन और बुद्धि की इस जडता को उच्छिन्न

करके 'अह' को 'परम' के 'आनन्द' मे और 'परम' के आनन्द को 'अह' की पुटी मे उँडेल देती है। तभी कवि रहस्य-भेद न करते हुए अवाक् कह उठता है

'हेरन हार हिरान समुद्र समानो बुन्द मे'—'अह' से उसमें मुग्धता आती है, पर समष्टि का परम सम्पर्क उसे आनन्द-विभोर कर देता है। यही कल्पना का यथार्थ पुरुषार्थ है।

• २० •

चेतना-प्रवाह

(श्री चन्द्रमौलि सुकुल)

मनुष्य जब तक जागता रहता है, और कभी कभी सोते समय भी, अर्थात् स्वप्नावस्था में, उसको चेतना रहती है। हम कहते है कि पत्थर जड़ है और मनुष्य चेतन, अर्थात् मनुष्य सोच-विचार कर सकता है, उसे सुख-दुःख होते है, वह इच्छा करता है, स्मरण रखता और ध्यान देता है। ये ही सब चेतना के काम हैं और इनमे से हर एक को 'मनोवृत्ति' कहते है। मनोवृत्तियाँ मनुष्य के मन मे आती, जाती और बदलती रहती है। एक क्षण मे एक मनोवृत्ति हुई, तो दूसरे क्षण मे दूसरी आ गई। अब देखना चाहिए कि इन मनोवृत्तियो के मुख्य लक्षण क्या है ?

चेतना की उपमा नदी से दी जाती है। जैसे नदी का प्रवाह अनविच्छिन्न अर्थात् लगातार होता है, वैसे ही चेतना का प्रवाह भी उसमे बीच मे अन्तर नहीं पड़ता। ऐसा नहीं होता कि मन मे वृत्ति एक आकर समाप्त हो गई, तब कुछ अन्तर देकर दूसरी वृत्ति आई, किन्तु एक वृत्ति के रहते-रहते ही उसमे कुछ परिवर्तन होकर दूसरी वृत्ति हो जाती है। नदी मे लहरे उठती है और एक लहर की समाप्ति के पहले ही दूसरी लहर का प्रारम्भ हो जाता है, यही दशा मनोवृत्तियो की भी है। साधारण बोलचाल मे भी कहते है कि यह हमारे मन की लहर है। एक उदाहरण लीजिए—माली

ने आकर आपके सामने गुलाब का फूल रख दिया, उसकी शोभा देखकर आपको आनन्द हुआ, अर्थात् चित्त मे यह वृत्ति पैदा हुई कि यह गुलाब का फूल बडा ही सुन्दर है। अब विचार कीजिए कि यह वृत्ति बिना किसी परिवर्तन के कितनी देर तक आपके मन में ठहर सकती है। कदाचित् आप कहे कि यह हमारी इच्छा पर अवलम्बित है। यदि हम चाहे, तो दस-पन्द्रह मिनट क्या, घण्टे-आध घण्टे तक उसी फूल को देखते रहे और फूल की शोभा का विचार अपने मन मे स्थायी रखे। परन्तु यह बात सत्य नहीं है। आपकी मनोवृत्ति क्षण-भर से अधिक—एकाध सैकण्ड से अधिक—नहीं ठहर सकती। आप फूल पर एक घण्टे तक दृष्टि रख सकते है, परन्तु मनोवृत्तियो मे बराबर परिवर्तन होता जायगा। आपका ध्यान कभी उस फूल की पखुडियो पर, कभी उसकी ललाई पर तथा कभी उसकी केसर पर जायगा, और यदि अपने ध्यान की बागडोर तनिक ढीली कर दी, तो आपकी मनोवृत्तियाॅ न जाने कहाॅ-कहाॅ पहुॅच जायॅगी। कभी आप उस फूल के पेड़ का स्मरण करेगे, तब सोचेगे कि यदि पेड़ मे अधिक खाद दी जाती तो फूल और भी बडा होता। तब सोचेगे कि अब की बार अमुक अहीर की गोशाला से खाद लाएॅगे। अहीर का स्मरण आते ही आपके मन मे उसके पुत्र-शोक की लहर उठेगी, और आप दुखी होगे। उसी प्रसग मे किसी और का स्मरण आएगा, जिसको उसी प्रकार का दु:ख पडा हो। इसी प्रकार विचारो का सिलसिला बराबर लगा रहेगा।

अब, मान लीजिए, जिस समय माली फूल लाया था, वहाॅ पर कई आदमी बैठे थे। फूल को देखकर आपके मन मे तो उपर्युक्त वृत्तियाॅ पैदा हुई, परन्तु और आदमियों की क्या दशा हुई? सबके मन मे एक ही प्रकार की वृत्तियाॅ न उठी होगी। उसी फूल को देखकर किसी को गुलाब के इत्र का खयाल आया होगा, फिर

उससे जौनपुर या कन्नौज का खयाल आया होगा—जहाँ इत्र के कार्यालय है। जौनपुर से गोमती नदी का, तब गगा नदी का, तब गगा नदी मे किसी समय अपने स्नान करने का, तब स्नान के समय वर्तमान किसी मित्र का, तब उस मित्र की चिट्ठी न आने का, तब उसका कुशल-समाचार जानने के लिए पत्र लिखने का ख्याल आया होगा, और विचारो की लडी इस प्रकार जारी रही होगी।

तीसरे आदमी को वही गुलाब का फूल देखकर कमल का, तब किसी महात्मा के चरण-कमलो का, तब उस महात्मा के उपदेशो का, तब उपदेशमय पुस्तको का, तब पुस्तको की मँहगाई का, तब यूरोप के महासमर का क्रम-क्रम से स्मरण आया होगा, और विचारो की शृङ्खला अविच्छिन्न चली गई होगी।

इसी प्रकार उस समय जितने आदमियो ने फूल देखा होगा, सबके मन मे भिन्न भिन्न प्रकार की प्रवृत्तियाँ आई होगी, और अपनी-अपनी रीति से जमी रही होगीं। यद्यपि मनोवृत्तियाँ सब के मनों में भिन्न-भिन्न उठी होंगी, तथापि इन मनोवृत्तियों के उठने की रीति सब आदमियों के लिए समान ही थी, अर्थात् एक वृत्ति से दूसरी वृत्ति का पैदा होना और किसी आदमी की सब वृत्तियो का लगातार एक सिलसिले मे रहना।

अब चेतना के मुख्य लक्षणों का सारांश देखिए

चेतना की जो वृत्ति होगी, वह किसी की वृत्ति अवश्य होगी। वृत्तियाँ वायु-मडल मे इधर-उधर उड़ती नहीं फिरतीं, किन्तु चेतना वाले किसी प्राणी की वृत्तियाँ होती है।

प्रत्येक प्राणी की मनोवृत्तियाँ दूसरे प्राणियो की मनोवृत्तियो से अलग होती है। आपकी मनोवृत्तियाँ आपके मन मे है, मेरी मेरे मन में, देवदत्त की देवदत्त के मन मे, यज्ञदत्त की यज्ञदत्त के मन मे। हाँ, यह सम्भव है कि किसी वस्तु को देखकर आपकी

और मेरी मनोवृत्तियो का सिलसिला किसी अश मे समान हो, परन्तु आपकी मनोवृत्तियो से मेरी मनोवृत्तियो का सम्बन्ध नहीं है। मनोवृत्तियो की पूर्ण समानता असम्भव है।

मनोवृत्तियाँ नदी की धारा के समान लगातार चलती है। उनमे अन्तर नहीं पड़ता, परन्तु बराबर परिवर्तन होता जाता है। कोई भी मनोवृत्ति एक ही रूप मे एक क्षण से अधिक नहीं ठहर सकती।

यद्यपि एक मनोवृत्ति का सम्बन्ध सैकड़ो मनोवृत्तियो से हो सकता है, तथापि पहली मनोवृत्ति का सकेत पाकर केवल एक ही वृत्ति उसके पीछे आती है। एक ही गुलाब के फूल को देखकर अनेक आदमियो के मन मे भिन्न-भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ (पेड का स्मरण, इत्र का स्थान, कमल का स्मरण) पैदा हुई, परन्तु किसी के मन मे सब वृत्तियाँ एक-साथ नहीं आई, साराश यह कि कोई भी मनोवृत्ति अपने से सम्बन्ध रखने वाली बहुत सी मनोवृत्तियो मे से किसी एक को चुन लेती है, और वह चुनी हुई मनोवृत्ति उस पहली मनोवृत्ति के पश्चात् उपस्थित होती है।

अब मनोवृत्ति के एक विशेष स्वभाव या धर्म का हाल जानने के लिए उदाहरण लीजिए—मैं इस समय लिख रहा हूँ, मेरा ध्यान लिखने मे ही लगा है। परन्तु दिन कुछ चढ चुका है। हवा बन्द है। गरमी हो रही है। गरमी के कारण शरीर को क्लेश पहुँच रहा है, लिखने मे ध्यान रहने पर भी गरमी की थोड़ी सी भावना मन मे लगी है। घडी भी सामने रखी है और थोडी देर हुई कि उसमे देखा था साढे नौ बज चुके थे, तब से देर होने का खयाल भी मन के एक कोने मे पडा है। पेड़ के नीचे बच्चे खेलते और चिल्लाते है, जिससे मेरे लिखने मे विघ्न हो जाता है, और मेरे मन मे कई मिनट से बहुत हल्की-सी यह भावना उठ रही है कि यह पैराग्राफ लिखकर बच्चो को यहाँ से हटा दूँ।

गरमी, देर और चिल्लाने से मेरे लिखने मे कुछ विघ्न तो अवश्य पहुँचा, परन्तु लिखने से मेरा ध्यान नहीं हटा। निदान, बच्चो की चिल्लाहट बहुत बढी और लिखने से मेरा ध्यान उचट गया। तब मैंने डाटकर बच्चो को वहाँ से हटाया। बीच मे एक बार घड़ी की खटखटाहट से मेरा ध्यान कुछ बॅट गया था, परन्तु मैंने उसी दम अपने ध्यान को सॅभालकर फिर लिखने मे लगा दिया।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि यद्यपि मेरी मनोवृत्ति के केन्द्र मे लिखने का ध्यान था, तथापि केन्द्र के इर्द-गिर्द गरमी. देर और चिल्लाने के भावो का हल्का-सा प्रभाव था। पर सबका प्रभाव बराबर नहीं था—किसी का कम, किसी का कुछ अधिक। लिखने, गरमी, देर, चिल्लाहट और सम्भवत. अन्य भी दो-एक बातों के अश मेरी मनोवृत्ति मे अवश्य उपस्थित थे। विशेष ध्यान तो लिखने ही पर रहा, गरमी, देर और चिल्लाहट का बल गौण अर्थात् दूसरे-तीसरे दर्जे का था। परन्तु इन गौण बातो मे भी कभी एक का बल अधिक हो जाता था, कभी दूसरी का। एक बार घड़ी की खटखटाहट ने लिखने की वृत्ति को केन्द्र से बाहर निकाल दिया और स्वय विचार के केन्द्र पर अधिकार कर लिया। परन्तु यह अधिकार देर तक न रह सका। कारण, लिखने का विचार केन्द्र से दूर नहीं भागा था, और दूसरे ही क्षण उसने अपना अधिकार फिर से स्थापित कर लिया। इसी प्रकार बच्चों की चिल्लाहट ने भी एक बार बड़े बल के साथ ध्यान का केन्द्र ले लिया।

साराश यह है कि हर एक मनोवृत्ति मे एक ही साथ कई विचार रहा करते है, परन्तु सबका बल बराबर नहीं होता। जिसका बल सबसे अधिक होता है, अर्थात् जो विचार ध्यान के केन्द्र मे रहता है उसी के नाम से मनोवृत्ति कही जाती है, परन्तु इन विचारो मे बडा परिवर्तन होता रहता है। कभी केन्द्र का विचार केन्द्र ही मे रहता है और दूर वाले विचारो के बल मे परिवर्तन हो जाता

है। कभी केन्द्र वाले विचार को केन्द्र-स्थान से हटाकर वहाँ पर कोई अन्य विचार आ जाता है। मन की दशा किसी अराजक देश के समान है। जहाँ जिसका अधिक बल हुआ, वही गद्दी पर बैठ गया और अपने अनुकूल लोगो को उसने मन्त्री, सदस्य, कोषाध्यक्ष आदि बना लिया। इन सभासदो मे भी कभी किसी का बल अधिक हो गया और कभी किसी का। फिर, यदि इन सभासदो मे से किसी ने या अन्य किसी ने देखा कि मेरा बल अधिक है, तो उसने गद्दी छीन ली, सभासद वैसे-के वैसे ही बने रहे, या उनके अधिकारो मे परिवर्तन हो गया, कुछ निकाल अथवा बदल दिये गए, या सब-के-सब अलग कर दिये गए और उनकी जगह दूसरे नियत किये गए।

अध्यापक के काम मे सबसे बडी कठिनता यही होती है कि बच्चे के मन मे एक ही साथ बहुत से विचार आते है। कभी एक विचार का बल अधिक हो जाता है, कभी दूसरे का। परिणाम यह होता है कि बच्चे का मन जमकर किसी एक ही विचार पर नहीं लगता। तब कहते है कि अमुक बच्चे का ध्यान पढने मे नहीं जमता। इस दशा मे अध्यापक का लक्ष्य यह होता है कि जिस विषय को वह पढना चाहता है उसमे बच्चों की ऐसी रुचि पैदा कर दे कि उस रुचि के प्रभाव से बच्चों का ध्यान दूसरे विषय पर जा ही न सके। ऐसे अध्यापक का काम उस सेनापति के काम के समान होताहै, जो शत्रु-सेना को दो ओर पहाडियो और तीसरी ओर जल से घिरे हुए स्थान में जाने के लिए विवश करता और चौथी ओर से उस पर स्वय आक्रमण करता है। शत्रु को तब किसी ओर भागने का अवकाश नही रहता, इस दशा मे सेनापति को विजय अवश्य प्राप्त होती है। इस सेनापति की चतुरता इतनी ही नहीं होती कि वह शत्रु-सेना को घिरे हुए स्थान में ले जाता है, किन्तु वह ऐसा उपाय भी करता है कि शत्रु-सेना स्वयं ही उस

स्थान पर जाती है और यह नहीं समझती कि उस स्थान पर उसका जाना उस सेनापति की चतुरता का परिणाम है। इसी प्रकार चतुर अध्यापक कभी बच्चों पर यह नहीं प्रकट करता कि मैं तुम्हें पाठ के विषय के सिवा अन्य विषय पर ध्यान नहीं देने दूँगा। परन्तु वह ऐसा उपाय करता है कि जिस विषय को वह चाहता है, उसके अलावा कोई भी दूसरा विषय बच्चे नहीं सोच सकते। वह उस विषय में बच्चों की इतनी रुचि पैदा कर देता है कि वे तीन ओर से घिर जाते हैं और चौथी ओर से अध्यापक अभीष्ट विषय को बड़े उत्साह के साथ उपस्थित करता है। ऐसे पाठ का प्रभाव बच्चों के हृदय से आजन्म नहीं मिटता।

चेतना की उपमा नदी से दे ही चुके हैं। कल्पना कीजिए कि किसी नदी का पाट सौ हाथ है और उस पाट की औसत गहराई दस हाथ। उसी नदी का पाट कुछ दूर आगे चलकर पचीस हाथ रह जाता है। अब यहाँ की औसत गहराई कितनी होगी? बहाव की गति में क्या परिवर्तन होगा? इसी प्रकार किसी मनोवृत्ति का फैलाव जितना अधिक होगा, उसकी गम्भीरता उतनी ही कम होगी। मन की धारा को समेटकर थोड़ी ही चौड़ाई में बहाइए, तो उसकी गहराई अगाध हो जायगी। सरल शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि यदि अन्य विषयों से रोककर केवल एक ही विषय पर चित्त जमाया जाय, तो वह विषय बहुत शीघ्र स्पष्ट हो जाता है। चित्त 'एकाग्र' करने का यही अर्थ है, इसी 'चित्त-वृत्ति-निरोध' का नाम योग है, इसी का नाम 'सकेन्द्रण' है, और इसी को ध्यान कहते हैं। इसी के साधने वाले सच्चे योगी हैं। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, इसी से मनुष्य पूरा मनुष्यत्व पाता है।

मनोवृत्तियों में तीन प्रकार की बातें रहा करती हैं—क्षोभ, ज्ञान और इच्छा। सुख, दुःख, सन्तोष, क्रोध, प्रेम, भय, त्रास आदि क्षोभ के विषय हैं, अर्थात् इनसे मन की ऐसी दशा हो जाती है मानो

वह कॉपने लगा हो। चीजो के देखने, सुनने, छूने, चखने और सूँघने से उनका जो हाल मालूम होता है, वह ज्ञान है। स्मरण तर्क, भावना आदि भी ज्ञान ही के कारण है। इच्छा का अर्थ स्पष्ट है। कुछ-न-कुछ करने की प्रवृत्ति होती है। ध्यान, इरादा आदि इसके विषय है।

यद्यपि क्षोभ, ज्ञान और इच्छा के अश हर मनोवृत्ति मे मिले रहते है, तथापि उनमे से किसी-न-किसी की प्रधानता रहती है, और उसी प्रधानता के अनुसार उस मनोवृत्ति को क्षोभ-वृत्ति, ज्ञान वृत्ति या इच्छा-वृत्ति कहते है। क्षोभ, ज्ञान और इच्छा मे परस्पर विरोध होता है, अर्थात् हर एक चाहता है कि मैं ही प्रधानता पाऊँ। कल्पना कीजिए कोई लड़का खेलते समय गिर पड़ता है और उसके पैर मे मोच आ जाती है। मोच के कारण उसे पीड़ा होती है (क्षोभ), वह उठकर देखता है तो उसे मालूम होता है कि पैर मे चोट आ गई है (ज्ञान), वह इच्छा करता है कि पीड़ा बन्द करने के लिए पैर मे दवा लगा दी जाय (इच्छा), अध्यापक भी वहाँ खड़ा है। उसके मन मे भी तीनों तरह की वृत्तियाँ आती है—मोच खाया हुआ पैर देखकर (ज्ञान), उसे दया आती है और दु ख होता है (क्षोभ) और वह तत्क्षण ही पैर को रूमाल से कसकर बाँध देता है (इच्छा)। अन्य लोगो को भी पैर देखने से ज्ञान, सहानुभूति के कारण क्षोभ और पैर के शीघ्र अच्छे हो जाने की आकाक्षा से इच्छा होती है। अब देखना चाहिए कि किसके मन मे कौनसी वृत्ति प्रधान है। गिरने वाले लड़के के पैर मे पीड़ा है, इसलिए उसके मन मे अन्य वृत्तियो के होते हुए भी क्षोभ की प्रधानता है। अध्यापक के मन मे तीनो वृत्तियाँ हैं, परन्तु प्रधानता इच्छा की है, क्योकि वह चाहता है कि पैर शीघ्र ही अच्छा हो जाय और रूमाल से पैर बाँधता है। अन्य लोगों के मन में यद्यपि क्षोभ और इच्छा के

अश है, तथापि ज्ञान की प्रधानता है, अर्थात् उनके लिए इतना जानना बडे महत्त्व का है कि कौन गिरा, कैसे गिरा और कहाँ चोट लगी।

इससे स्पष्ट है कि स्मरण, भावना, अवधान, ध्यान, स्वभाव आदि जिन विषयों का वर्णन पुस्तकों मे अलग-अलग अध्यायों मे बॉट दिया जाता है, वे विषय यथार्थ मे इतने अलग-अलग नहीं है। वे ऐसे नहीं है, जैसे मनुष्य के शरीर मे हाथ, पैर, सिर और धड अलग-अलग होते हैं, किन्तु ऐसे हैं जैसे फूल मे रग, गन्ध, आकार आदि। यदि फूल का रग अलग करके देखना चाहे तो असम्भव है, यदि उसकी गन्ध को उससे पृथक् करके सूँघना चाहे तो असम्भव है, यदि उससे उसके आकार को अलग करके जानना चाहे, तो असम्भव है। इसी प्रकार ज्ञान, क्षोभ और इच्छा के समूह ही का नाम मन है। मन से पृथक् करके कोई भी वृत्ति देखी नहीं जा सकती।

तो वैज्ञानिक लोग इन वृत्तियो का किस तरह पृथक्-पृथक् वर्णन कर सकते हैं?—अवधान के द्वारा। यदि हम फूल के अन्य गुणों मे हटकर केवल उसके रग पर मन जमाएँ तो रग का ज्ञान हमको होता है, यदि केवल उसकी गन्ध पर मन एकाग्र करे तो गन्ध की प्रतीति होती है। इसी प्रकार मन की वृत्तियो पर भी अलग-अलग ध्यान जमाया जा सकता है और उनका विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है, मानो उनसे और अन्य वृत्तियो से कोई सम्बन्ध ही नहीं। यथार्थ में तो मन की वृत्तियो मे बडा सम्बन्ध है।

• २१ •

इच्छा-शक्ति

(श्री भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव)

हम अपनी इच्छा-शक्ति को किस प्रकार प्रबल बना सकते हैं? मनोवैज्ञानिकों का यह मत है कि शारीरिक गठन या स्वास्थ्य का इच्छा-शक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह सोचना कि दुर्बल शरीर वाला व्यक्ति अपनी इच्छा-शक्ति नहीं बढा सकता—गलत है। स्वयं अपने देश मे ही देखिए, महात्मा गाधीकी इच्छा-शक्ति का लोहा कौन नहीं मानता, किन्तु शारीरिक बल उनका नगण्य ही था। इसके प्रतिकूल स्वस्थ और भीमकाय कितने ही व्यक्ति अपनी इच्छाओ के गुलाम बने डोलते फिरते हैं—न इनका कोई लक्ष्य है, न कोई सिद्धान्त। बिना पतवार की नौका की भॉति इनका उद्देश्य विहीन जीवन वायु के प्रत्येक झकोरे के साथ अपनी दिशा बदलता रहता है।

इच्छा-शक्ति का प्रदर्शन तथा इसका विकास तभी स्पष्ट होता है जब कोई लक्ष्य या ध्येय सामने हो। बल्कि हम यह कह सकते है कि इच्छा-शक्ति का आधार ही लक्ष्य या ध्येय है। लक्ष्यहीन जीवन मे इच्छा-शक्ति के प्रदर्शन के लिए किसी प्रकार की प्रेरणा मौजूद नहीं होती। इस प्रेरणा के अभाव मे जीवन की शक्तियॉ विघटित होकर व्यर्थ नष्ट होती रहती हैं, उनसे कोई फल प्राप्त नहीं होता। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वाष्प इजिन के ब्वायलर

मे यदि अनेक सुराख हों तो भाप इन सुराखों के रास्ते बाहर निकलकर व्यर्थ नष्ट हो जाती है।

जीवन मे जिस किसी ने स्पष्ट लक्ष्य चुन लिया है वह अनजाने भी अपनी इच्छा-शक्ति के विकास मे सहायता पहुँचाता है। लक्ष्य स्पष्ट होना चाहिए—लक्ष्य का स्तर ऊँचा हो या नीचा, यह एक गौण बात है। उदाहरण के लिए, तडके जाडे की सुबह मे भी सप्ताह में छ दिन बेचारा क्लर्क बिस्तर छोड़कर ६॥ बजे की ट्रेन इसलिए पकड़ता है क्योंकि उसने यह निश्चय कर लिया है कि वह अपने परिवार को भूखों न मरने देगा। अत उसे अपने ऑफिस में ठीक ६ बजे पहुँचने के लिए ६॥ की गाड़ी पकड़नी होगी। सच तो यह है कि एक शराबी भी कुछ हद तक इच्छा-शक्ति का प्रदर्शन करता है। शराब पीने के लिए उसे सम्भवत इस ध्येय से प्रेरणा मिलती है कि वह शराब के नशे मे अपनी परेशानियो को खो सकेगा। मान लीजिए कानून की आज्ञा से शराब की दुकाने रात को २ से ३ बजे तक खुलने लगें, तो उस वक्त भी शराबी व्यक्ति अपनी इच्छा-शक्ति के ज़ोर से जाड़े की ठिठुरती रात मे उठकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इन दुकानों पर जाया करेगे। अतः इन शराबियो की इच्छा-शक्ति किसी प्रकार का दोष नहीं है, दोष केवल लक्ष्य मे है।

अक्सर ऐसे व्यक्ति के बारे मे, जो जीवन के हर क्षेत्र में असफलता प्राप्त करता है, लोग कहते है कि उसमे इच्छा-शक्ति का नितान्त अभाव है। किन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसे व्यक्ति के पास कोई विशिष्ट लक्ष्य ही मौजूद नहीं है, जिसके आधार पर वह इच्छा-शक्ति का निर्माण कर सके। लक्ष्य के अभाव मे ऐसे व्यक्ति की इच्छा-शक्ति के विकास के लिए कहीं से प्रेरणा नहीं मिलती। जब तक मनुष्य को जीवन मे ध्येय दृष्टिगोचर नहीं होता

तब तक वह इच्छा-शक्ति के निर्माण के लिए उचित अवसर भी नहीं प्राप्त कर पाता।

अत इच्छा-शक्ति के विकास के लिए सर्वप्रथम शर्त है—जीवन मे अपने लिए एक उचित लक्ष्य या ध्येय निश्चित करना। लक्ष्य जितना ऊँचा होगा उतनी ही अधिक उसकी इच्छा-शक्ति भी होगी, लक्ष्य के चुनाव के लिए हमे महान् व्यक्तियो की जीवनियो पर दृष्टि डालनी होगी। ऊँचे लक्ष्य हमे यहीं से प्राप्त हो सकते है। लक्ष्य का चुनाव किसी अन्य व्यक्ति के दबाव के कारण नहीं होना चाहिए। स्वय अपने मन मे ही अपना लक्ष्य जब आप चुनेंगे तभी उसकी प्राप्ति के लिए आपको भीतर से प्रेरणा मिलेगी। यह लक्ष्य उस हालत मे आपकेसमूचे व्यक्तित्व को बाँधकर उसे अपनी ओर बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करेगा। साथ ही यह भी जानना जरूरी है कि लक्ष्य जितना ऊँचा होगा उतनी ही अधिक शक्ति उससे हमे हासिल होगी। निम्न स्तर का लक्ष्य हमारे व्यक्तित्व को एक सकुचित क्षेत्र के अन्दर ही विकसित होने का अवसर देता है। इस क्षेत्र से बाहर हम अपनी इच्छा-शक्तिको निरा अपगु पाते है। व्यक्तित्व और इच्छा-शक्ति के सर्वतोमुखी विकास के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने लक्ष्य को धर्म और नैतिकता की कसौटी पर कसकर पहले देख ले कि वह खरा उतरा है या नहीं। वरन् स्वार्थपूर्ण लक्ष्य को पकड़कर चलने मे इच्छा-शक्ति का केवल एकागी विकास हो पाता है, जिससे मनुष्य का व्यक्तित्व अन्तर्मुखी बन जाता है—वास्तविक सुख और आनन्द से वह वचित रहता है।

किन्तु लक्ष्य के चुनाव मे अपनी शारीरिक और बौद्धिक क्षमता का भी ध्यान रखना आवश्यक है। कौन नहीं चाहता कि वह केन्द्रीय गवर्नमेंट की केबिनेट का प्रधान मन्त्री बन सके अथवा वह राममूर्ति सरीखा बलवान बन जाय। किन्तु ये सम्भावनाएँ

हर किसी के बूते के अन्दर नहीं है। अतः लक्ष्य निश्चित करते समय यह देख लेना चाहिए कि लक्ष्य इतना ऊँचा तो नहीं कि वह आपकी पहुँच से बाहर हो। साथ ही लक्ष्य का स्तर एकदम नीचा भी नहीं होना चाहिए। लक्ष्य यदि अत्यधिक ऊँचा हुआ तो फल यह होगा कि उस लक्ष्य तक आप कभी न पहुँच पाएँगे और नाहक हर कदम पर आपको निराशा मिलेगी जो आपके आत्म-विश्वास को डिगाने का कारण बनेगी। इसके प्रतिकूल एकदम साधारण लक्ष्य स्थिर करने पर उसकी प्राप्ति मे आपको श्रम बिल-कुल ही न करना पडेगा। फल यह होगा कि इच्छा-शक्ति को विकास के लिए अवसर न मिल पाएगा, वह कुण्ठित पडी रह जायगी।

लक्ष्य-प्राप्ति के पथ पर अग्रसर होने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे अन्दर आत्मविश्वास की मात्रा पर्याप्त अश मे मौजूद हो। आत्मविश्वास के अभाव में इच्छा-शक्ति मानो दबी-दबी-सी रह जाती है। 'मैं तो अब कुछ नहीं कर सकता' अथवा 'मेरी किस्मत ही खराब है' इस तरह की हीन भावनाएँ हमे कभी ऊपर उठने नहीं देतीं। सम्भव है किसी क्षेत्र-विशेष मे आपको गहरी असफलता मिली हो, किन्तु केवल इस बात से हतोत्साह हो जाना निरी मूर्खता है। आधुनिक मनोविज्ञान बतलाता है कि हर व्यक्ति के अन्दर किसी विशेष क्षेत्र में उसकी प्रतिभा चमक सकती है और फिर उसी क्षेत्र में अपना कदम आगे बढाइए। इसके लिए अगर आपको अपना पेशा बदलना पडे, नया लक्ष्य ढूँढना पडे तो इसमे तनिक भी सकोच न करिये। कोल्हू के बैल की तरह वृत्त मे आँख मूँदकर चक्कर न काटिए। मनुष्य को सोचने की शक्ति प्रकृति ने इसलिए प्रदान की है कि वह अपनी उन्नति के लिए इसका इस्तेमाल करे।

अपना क्षेत्र पहचानने के बाद और लक्ष्य स्थिर करने के

उपरान्त आपको अपना प्रयोग आरम्भ करना है—केवल दिवा-स्वप्न देखने से काम नहीं चल सकता। उदाहरण के लिए एक विद्यार्थी यदि यह निश्चय करता है कि उसे परीक्षा मे सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करना है, तो उसे लक्ष्य-प्राप्ति के लिए कमर कसकर काम करना होगा। नियमपूर्वक एक नियत स्थान पर और नियत समय पर उसे अपनी पुस्तकों का अध्ययन करना होगा। हममें से बहुत कम लोग इस बात के महत्त्व को पहचानते हैं कि समय की पाबन्दी हमारे काम को निश्चित रूप से आगे बढ़ाती है। यूरोप के बड़े-बडे लेखक, जैसे स्वर्गीय श्री एच० जी० वेल्स, कभी इस बात के मुहताज नहीं होते थे कि जब पुस्तक या लेख लिखने की मौज आए तभी वह कलम हाथ मे लेंगे। वास्तव मे प्रतिदिन नियत समय पर वह अपने अध्ययन के कमरे मे पहुँच जाते हैं और कुरसी पर बैठकर लिखना आरम्भ कर ही देते है।

किसी भारी काम को हाथ मे लेने पर अपनी सामर्थ्य के अनुसार निश्चित कर लीजिए कि प्रतिदिन इतना काम अवश्य आप निपटा लेगे। फिर पक्का इरादा कर लीजिए कि चाहे जो-कुछ भी हो, प्रतिदिन का काम आप समाप्त अवश्य करेंगे। इस स्कीम को यदि आपने अपना लिया तो आप निश्चय जानिए—अनायास आपकी इच्छा-शक्ति मे दृढ़ता आती जायगी।

लक्ष्य-प्राप्ति के पथ पर अग्रसर होने मे सबसे बडी बाधा आपकी बुरी आदतें डालेगी, अत. इन आदतों को उखाड फेकना होगा। एक सुसंगठित योजना बना लीजिए कि इस महीने में आपको अपनी अमुक आदत पर विजय प्राप्त करनी है, फिर हर समय जागरूक बने रहिए कि आप पर वह आदत हावी तो नहीं हो रही है। मान लीजिए शाम को आपको मद्य-पान की टेव लग गई है, तो इस बुरी आदत को हटाने के लिए केवल यही पर्याप्त

दुहारते रहे कि आप अब शराब न छुएँगे। इससे तो व्यर्थ मे आपके मस्तिष्क मे संघर्ष चलेगा, जिसकी प्रतिक्रिया सम्भवत हानिप्रद ही होगी। वाञ्छनीय यह है कि उस समय आप किसी ऐसे काम मे लग जाइए जिसमे आपकी विशेष रुचि हो। उदाहरण के लिए आप सगीत मे, शतरज के खेल में अथवा फोटोग्राफी मे मन लगा सकते हैं। ऐसा करने से आप मानसिक सघर्ष की प्रतिक्रिया से बच जायँगे। प्रतिदिन की विजय आपकी इच्छा-शक्ति को धीरे-धीरे ऊँचाई की ओर ले जायगी। इस प्रकार आप अपनी कुटेव से छुटकारा पाएँगे, साथ ही इच्छा-शक्ति के विकास मे भी कामयाबी हासिल कर सकेंगे।

जिस प्रकार टूर्नामेंट मे सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से खिलाड़ी प्रतिदिन दौड तथा अन्य प्रतियोगिताओं के लिए निश्चित योजना के अनुसार ट्रेनिंग हासिल करता है, उसी प्रकार आपको भी प्रतिदिन अभ्यास करना होगा। अपने लिए एक सीमा निर्धारित कर लीजिए कि मुझे अधिक नहीं तो इतना काम आज अवश्य पूरा करना है। जैसे सिगरेट के आप अभ्यस्त है तो सिगरेट पीने की आदत से छुटकारा पाने के लिए यदि अचानक आप इरादा कर लेते हैं कि बस आज से सिगरेट छुएँगे नहीं, तो ऐसी हालत मे बहुत सम्भव यह है कि आप अपने इस प्रण को निबाह न सके और इसके बदले आपको निराशा मिले, जो आपकी इच्छा-शक्ति को और भी निर्बल बना देगी। ऐसी दशा मे आप अपने लिए केवल इतना ही उत्तरदायित्व निश्चित करे जितना आप निबाह सके। उदाहरण के लिए सिगरेट की कुटेव से बचने के लिए आप कुछ इस तरह का निश्चय करें कि इस वक्त से एक घण्टे के भीतर सिगरेट नहीं जलाऊँगा चाहे जो-कुछ भी हो। निश्चय ही आप अपने इस छोटे से प्रण को निबाह सकेंगे और आपके अन्दर आत्म-विश्वास को एक नया बल मिलेगा कि आप अपनी इच्छा पर

काबू पा सकते है। धीरे-धीरे इस सयम की अवधि को आप बढा सकते है। एक सप्ताह के उपरान्त आप तय कर सकते है कि अमुक समय से दो घण्टे के भीतर आप किसी भी दिन सिगरेट न पिया करेंगे। क्रमशः इस प्रकार सयम की अवधि बढाकर आप सदैव के लिए अपनी इस आदत से छुटकारा पा सकते हैं।

अमरीका के एक विशेषज्ञ ने, जिसने व्यावहारिक मनोविज्ञान मे अनेक अनुसन्धान किये हैं, इच्छा-शक्ति के विकास के लिए एक अच्छी युक्ति बतलाई है। आप दिन के किन्हीं भी दो घण्टों को अपनी इच्छा-शक्ति के प्रयोग के लिए चुन लीजिए और इन दो घण्टों मे समय-विभाजन करके आप अपने लिए एक निश्चित कार्यक्रम बना लीजिए, जिसमे एक-एक मिनट का हिसाब हो। फिर लगकर दो-तीन महीने तक बिना किसी अपवाद के इस कार्य-क्रम का अक्षरश पालन कीजिए। सम्भवत इस नियत कार्यक्रम से आपको विरत करने के लिए इन दो-तीन महीनो मे कितने ही प्रलोभन आऍगे, किन्तु उनमे से प्रत्येक पर विजय प्राप्त करना आपकी इच्छा-शक्ति का परम ध्येय होगा। बाद मे प्रयोग की अवधि को आप दो घण्टे से बढ़ाकर तीन या चार घण्टे कर सकते है। इस प्रकार मानो इच्छा-शक्ति को व्यायाम का अवसर देकर आप उसे विकसित होने का अवसर देते है।

सुविकसित इच्छा-शक्ति वाला व्यक्ति ही संघर्ष के इस आधु-निक युग मे अपने पॉव मजबूती से टिका सकता है—जीवन में सफलता प्राप्त करने की क्षमता केवल ऐसे ही व्यक्तियो मे पाई जाती है।

• २२ •

सुख की खोज

(डॉक्टर सम्पूर्णानन्द)

राजनीति-शास्त्र भी विज्ञान है। यह सच है कि वह रसायन की भाँति भौतिक द्रव्यो का विज्ञान नहीं है, इसलिए उसमें भौतिक विज्ञानो की भाँति नियतता नहीं है। पत्थर के सभी टुकडे एकसे होते है। यदि एक टुकडा कहीं पड़ा है तो हम जानते है कि वह अपने से कभी न हिलेगा। बाह्य परिस्थितियाँ ही उसमे गति ला सकती है। अत उनको जान लेने से हम जान सकते है कि उस पत्थर की किस समय क्या अवस्था होगी और यह भी कह सकते हैं कि पृथ्वी के सभी टुकड़ो की वैसी परिस्थिति मे वैसी ही स्थिति होगी। परन्तु जीवधारियों मे ऐसी समता नहीं होती। एक ही परिस्थिति मे दो कीड़े भी कभी-कभी विभिन्न आचरण करते हैं। मनुष्यो मे तो और भी भेद देखा जाता है। सबके सस्कार एकसे नहीं होते। इसलिए बाहरी बातो का प्रभाव सब पर एकसा नहीं पडता। सस्कारो की विषमता के अनेक कारण हो सकते है— जैसे कुल-भेद, शिक्षा-भेद, सम्पत्ति-भेद। फिर अदृष्ट अर्थात् पूर्व जन्मो मे किये हुए कर्मों के परिणाम से सबकी बुद्धि एकसी नहीं होती। जो लोग पूर्व जन्म का अस्तित्व और कर्मवाद की सत्यता नहीं मानते वे भी यह तो देखते ही हैं कि सबकी बुद्धि एकसी नहीं होती। भेद क्यों होता है, इसका ठीक-ठीक कारण वे

नहीं बतला सकते। अस्तु, कारण कुछ भी हो, बुद्धियों मे भेद होता है, अतः बाह्य परिस्थितियों का प्रभाव सब पर एकसा नहीं पडता। इसलिए सब लोग एकसा व्यापार नहीं करते और जीव-सम्बन्धी विज्ञानो में वह नियतता नहीं होती जो भौतिक विज्ञानों मे होती है। इतना भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि एक ही व्यक्ति समान परिस्थितियो मे हर समय एकसा आचरण करेगा। इतना ध्यान मे रखते हुए हमको राजनीति-विज्ञान का अध्ययन करना है।

जब यह शास्त्र विज्ञान है तो इसके सिद्धान्त भी वैज्ञानिक ढग से ही निर्धारित होने चाहिएँ। वैज्ञानिक ढग है कि पहले उस जाति की वस्तुओ का आचरण देखा जाय, फिर उस आचरण के पीछे जो नियम काम करता दीख पड़े वह सिद्धान्त रूप मे बाँधा जाय। पहले वस्तुओ का गिरना देखा गया, फिर आकर्षण-सिद्धान्त कायम किया गया। हजारों मनुष्यों को मरते देखकर यह सिद्धान्त निकला कि मनुष्य-मात्र की मृत्यु होती है। कभी कभी लोग अपनी बुद्धि के बल पर पहले सिद्धान्त बना लेते हैं, फिर वस्तुओ के आचरण को उसके अनुसार मिलाने की चेष्टा करते हैं। यह तरीका गलत और अवैज्ञानिक है। अतः हमको राजनीति मे इसी तरीके से काम करना चाहिए। पहले मनुष्यों के आचरण को देखे, फिर सिद्धान्त निश्चित करे।

हम देखते हैं कि लोग रुपया-पैसा चाहते है, बाल-बच्चे चाहते हैं, समाज मे अच्छा स्थान चाहते है, स्वास्थ्य चाहते हैं और यदि वे आस्तिक हैं, तो परलोक मे अच्छी गति चाहते हैं। शास्त्रीय भाषा मे मनुष्य के चार पुरुषार्थ है—अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। इन्हीं की प्राप्ति के लिए वह सारे जन्म प्रयत्न करता है। किसी की प्रवृत्ति इनमे से एक पुरुषार्थ की ओर अधिक झुकती है, किसी की दूसरे की ओर। परन्तु प्रायः सभी मनुष्य यथासम्भव इन चारों के

खोजी होते हैं। जब यह दीख पडता है कि सब बाते युगपत् नहीं मिल सकतीं तो फिर अपने-अपने सस्कार के अनुसार लोग एक को पकड़ते हैं और शेष को छोड देते है। यह बात भी देखने में आती है कि प्रायशः सबका उद्योग यही होता है कि मेरा उद्देश्य सिद्ध हो, दूसरे का काम बिगड़ जाय। तद्विपरीत चाहने वाला कोई विरला ही होता है। पर जब हितों का सघर्ष होता है और यह प्रतीत होने लगता है कि बिना दूसरे का काम बिगाड़े मेरा काम नहीं बन सकता, तब साधारण मनुष्य इसके लिए भी तैयार हो जाता है। किसी-किसी में यह प्रवृत्ति बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक पहुँच जाती है कि उसके लिए दूसरों का काम बिगाडना मुख्य और अपना काम बनाना गौण लक्ष्य रह जाता है।

परन्तु इन पुरुषार्थों पर ध्यान देने से यह साफ दीख पड़ता है कि इनकी तह मे एक चीज छिपी है। वह है सुखैषणा—सुख की चाह। कोई भी मनुष्य हो, किसी भी अवस्था मे हो, वह सुख चाहता है। सुख केवल दुःख की निवृत्ति का नाम नहीं है, वह एक स्वतन्त्र अनुभूति है। मनुष्य अपने प्रत्येक काम द्वारा इसी अनुभूति को ढूँढता है। रुपया-पैसा, सन्तान, पद, ये सब सुख के साधन हैं, इसीलिए इनका सग्रह किया जाता है। स्वत इनमें उपादेयता नहीं है। ये चीजे जब किसी अवस्था मे सुख देती हैं, उस समय उनका संग्रह करने को जी चाहता है, अन्यथा उनकी ओर से जी हट जाता है। जो लोग परलोक की ओर झुकते हैं वे भी सुख ही चाहते है। कोई उस सुख को परम सुख, ब्रह्मानन्द कहता है, कोई ईश्वर साक्षात्कार-जनित आनन्द कहता है। इससे यह परिणाम निकला कि हमारे हर प्रयास की प्रेरणा सुखैषणा से मिलती है।

इस खोज मे हमको सदा सफलता क्यों नहीं मिलती, हम सदैव क्यों नहीं सुखी रह पाते ? इसके दो मुख्य कारण हैं। एक

कारण तो यह है कि हमको सुख की पहचान नहीं है। हम अज्ञान से अभिभूत है। न तो हमको बाहरी जगत् की पूरी-पूरी जानकारी है, न हमको अपने चित्त की वृत्तियो की पहचान है। एक ही साथ चित्त चारो ओर दौडता है, पर हममें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि सब वासनाओ की एक साथ तुष्टि कर सके। फल यह होता है कि असन्तोष, असुख बना ही रहता है। अज्ञान के कारण हम जिन वस्तुओ को सुखद् समझकर पकड़ते हैं उनमे से अधिकाश दुःखद् ही निकलती है। किसी से तो प्राप्त करते ही चित्त को विराग हो जाता है, किसी से भोग-काल मे जी ऊब उठता है, कोई भोग के पीछे विरस लगती है। फिर नये सुख की खोज आरम्भ होती है। इसी दौड़-धूप मे जीवन-लीला समाप्त हो जाती है।

वेदान्त के आचार्यो का कहना है कि यह जगत् ब्रह्म है। ब्रह्म ही मिथ्या माया के सयोग से स्थावर-जगम, चर-अचर, जड-चेतन विश्व के रूप मे प्रतीत होता है। माया मिथ्या ही सही, पर जब तक उसका आवरण है तब तक तो जगत् की प्रतीति होगी, उसकी व्यावहारिक सत्यता मानकर ही चलना होगा। पानी मे न गिरना अच्छा होता, पर जब गिर ही पड़े तो यह कहने से काम नहीं चलता कि मैं पानी से पृथक् हूँ, तैरकर निकलना होगा, तब हो पृथकना सिद्ध होगा। इसी प्रकार 'जगत् मिथ्या है' कहना व्यर्थ का प्रलाप है। इस मिथ्या घेरे से निकलने का प्रयास करना होगा, अविद्या का आवरण हटाना होगा। अविद्या का पर्दा ज्यों-ज्यों दूर होगा त्यों-त्यो अपने असली रूप की अनुभूति होगी। अपना असली रूप सत् है, चित् है, आनन्द है। अविद्या के कारण इस आनन्दमयता का अनुभव नहीं होता, इसीलिए सुख की खोज भीतर से उठती है। सुख की खोज, अपने स्वरूप की खोज, पतजलि के शब्दो मे स्वरूप मे 'अवस्थान' अपने वास्तविक

रूप की अनुभूति की खोज है। इस खोज की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि अविद्या को विद्या से बदला जाय अर्थात् सचमुच शिक्षा का प्रबन्ध हो और ऐसी परिस्थिति उत्पन्न की जाय जिसमे यह शिक्षा अबाध रूप से दी जा सके।

सुख की प्राप्ति मे इस बात से बडी बाधा पडती है कि सब लोग सुख के लिए दौड़ते है और इस दौड मे प्रतिस्पर्धा होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि भोक्ता बहुत है, भोग्य सामग्री कम है। सबकी यह इच्छा होती है कि मैं स्वाधीन हूँ अर्थात् अपने सुख को सम्पन्न करने मे मेरा मार्ग निष्कण्टक रहे, पर यह हो नहीं पाता। लोगो के मार्ग एक-दूसरे को काटते है, इससे सघर्ष होता है। स्वाधीनता की खोज भी उतनी ही स्वाभाविक है जितनी कि सुख की खोज। मनुष्य का आत्मा वस्तुतः स्वतन्त्र है, अज्ञान उसका स्वभाव नहीं है, पर अज्ञान ने उसको जकड़-सा रखा है। वह उससे छूटना चाहता है। पूर्ण स्वाधीनता की अवस्था मे सघर्ष की कोई सम्भावना नहीं, क्योंकि जब एक ही ब्रह्म-पदार्थ माया के द्वारा नाना होकर प्रतीत हो रहा है तो पूर्ण स्वाधीनता अर्थात् पूर्ण ज्ञान की अवस्था मे नानात्व रहेगा ही नहीं, फिर किसका किससे सघर्ष होगा? ज्यो-ज्यो विद्या मे वृद्धि होती जायगी त्यो-त्यों सघर्ष की सम्भावना कम होती जायगी। अभेद बुद्धि के उदय होने पर कौन किससे लडेगा? पर जब तक यह बुद्धि उदय नहीं होती—और इसका उदय होना कोई हँसी-खेल नहीं है—तब तक इस बात का प्रबन्ध करना होगा कि स्वाधीनता के आवेग मे लोग लड-भिडकर ऐसी दुरवस्था न उत्पन्न कर दे जिसमे समाज ही नष्ट हो जाय और किसी की भी स्वाधीनता न बचे। यह तभी होगी जब स्वाधीनता तो हो पर उसके ऊपर नियन्त्रण रहे, प्रतिबन्ध रहे। जो पूरे आत्मसयमी है वे तो अपने ऊपर आप ही नियन्त्रण

कर लेंगे, पर इन लोगो पर बाहरी रोक-थाम लगाना आवश्यक होगा।

कुछ लोग यह सोचते है कि साधारण जनता अज्ञान के वशीभूत होने पर स्वाधीनता की पात्र नहीं है, अत उसका कल्याण इसी मे है कि वह स्वाधीनता से वचित रहे। कुछ थोडे-से अधिकारी ही इस योग्य है कि वे स्वाधीन रहे। यह नीत्से के अतिपुरुषवाद का एक रूप हो गया। यह ठीक है कि सब लोग पूर्ण स्वाधीनता के पात्र नहीं है, पर यह भी अटल सत्य है कि बिना पानी मे पॉव रखे तैरना नहीं आता। जिम्मेदारी, स्वाधीनता से ही स्वाधीनता की पात्रता देती है। स्वाधीन प्राणी से भूले होगी पर भूले ही उत्थान की सोपान हैं। स्वाधीनता मनुष्य का स्वभाव है। प्रकृति दबाई नहीं जा सकती। यदि राजनीतिक क्षेत्र मे लोगो को पराधीन बनाकर रखा जायगा तो उनकी स्वाधीनता की प्रवृत्ति दूसरे प्रकार से व्यक्त होगी—वह दुराचार, व्यभिचार के रूप मे फूटकर निकलेगी। इसके साथ ही जो लोग ऐसे पतित मनुष्यों पर शासन करेंगे उनके चरित्र का भी पतन हो जायगा। इसलिए अपात्रता के कारण मनुष्यों को स्वाधीनता से वचित नहीं रखा जा सकता। स्वाधीनता का उपभोग करके गलती करने से ही लोग क्रमश स्वाधीनता का सदुपयोग करना सीख जायँगे, परन्तु नियन्त्रण रखना तो अनिवार्य तथा आवश्यक है।

ये दोनो बातें कैसे हो, अर्थात् लोगो को वैसी शिक्षा कैसे मिले जिससे उनकी अविद्या दूर हो और उनको नियन्त्रित स्वाधीनता भी प्राप्त हो सके? जहॉ तक शिक्षा देने की बात है, उसके लिए अनेक प्रकार की सस्थाएँ है। सभी छोटे-बडे विद्यालय यह काम कर रहे है। उनके सिवाय समाज के सभी क्षेत्रों मे—घर मे, न्यायालय मे, सभा-समिति मे—ऐसी शिक्षा मिलती रहती है जिससे बुद्धि का परिष्कार होता है। यह अपरा विद्या की बात हुई। जो

उत्तम अधिकारी हैं वे साधु-महात्माओ के सत्सग से पूरी विद्या भी प्राप्त करते हैं। शिक्षा-सस्थाओ मे राज्य की भी गणना है। राज्य न तो भौतिक शास्त्रो को स्वयं पढ़ाता है, न वह ब्रह्म विद्या पढाने का आश्रय है। इस सम्बन्ध मे तो वह रुपय-पैसे का ही आयोजन कर सकता है—ब्रह्म विद्या के लिए तो यह भी नहीं हो सकता। पर सबसे बड़ी बात जो राज्य करता है, कम-से-कम जो उसे करनी चाहिये वह यह है कि वह ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दे जिनमें व्यक्ति को सदिच्छा प्राप्त करने मे सहायता मिले और ऐसी परिस्थितियों को दूर कर दे जिनसे इस काम मे बाधा पड़ती है।

नियन्त्रित स्वाधीनता के सम्बन्ध मे राज्य ही मुख्यतम सस्था है। यही वह सघटन है जो स्वाधीनता का उपभोग करने का सबको अवसर देता है और इसके साथ ही स्वाधीनता पर नियन्त्रण रखकर उसको उच्छृङ्खल स्वेच्छाचार मे परिणत हो जाने से बचा लेता है।

• २३ •

पैसा : कमाई और भिखाई

(श्री जैनेन्द्रकुमार)

हमारे घरो मे बच्चा कभी पढने के बजाय खेलता है तो श्रीमती गुस्से मे आकर कहती है, "दुष्ट, पढता क्यो नहीं है ?" वही गुस्सा स्थायी होने पर दुश्चिन्ता का रूप ले लेता है। तब माँ कहती है, ' मेरा क्या, खेलता रह, ऐसे तू ही आगे भीख माँगता फिरेगा। पढ़ेगा-लिखेगा तो हाकिम बनेगा, नहीं तो दर-दर भटकेगा।"

लड़का भीख माँगने या पढ-लिखकर अफसरी करने के अन्तर को न समझता हुआ झल्लाकर कह देता है, "हाँ, हम माँगेंगे भीख।"

माँ कहती है, "हाँ, भीख ही तो माँगेगा। इन लच्छनों से और तुझसे क्या होगा ? बेशरम, बेशऊर, दुष्ट !!" साथ ही दो-एक चपत भी बच्चे की कनपटी पर रख देती है।

इस पर बालक का नियम बँधा हुआ नहीं है कि वह क्या करेगा। कभी रोकर बस्ते मे मुँह डालकर बैठ जायगा, तो कभी मुँह उठाकर चलता बनेगा और बस्ते को हाथ न लगाएगा। कभी विरोध मे भागकर धूप मे और भी जोर-शोर से गुल्ली-डडा खेलने लग जायगा और कभी । आशय, उसके मन का ठिकाना नहीं है।

आइए, उस भिखमगे की बात को ही यहाँ समझे जिसके होने

की सम्भावना से माँ डरती और बालक को डराती है। उस दिन अखबार मे पढा कि एक आदमी पकडा गया। वह तरह-तरह के किस्से कहकर स्टेशन पर यात्रियो से माँगा करता था। जरूर उसमे अभिनय की कुशलता होगी। विद्यार्थी अपने को कहता था तो विद्यार्थी लगता भी होगा। इसी तरह अनाथ बालक सकटापन्न पिता, भटका यात्री, सम्भ्रान्त नागरिक आदि-आदि बताकर सुना गया कि वह हर रोज खासी 'कमाई' कर लेता था। उसके डेरे पर पाँच हजार की जमा मिली।

वह ऐसे पाँच हजार जमा कर पाया। सुनते हैं दस बारह वर्षों से वह यह व्यापार कर रहा था।

हमारे पडोसी ने पाँच वर्ष व्यापार किया और ढाई लाख रुपया पैदा किया।

पर भिखारी जेल मे है और पडोसी लाला रायबहादुर है। कारण भिखारी की कमाई कमाई न थी और लाला की कमाई कमाई है। भिखारी ने ठगा और लाला ने कमाया। तभी पहला कैदी है और लाला मजिस्ट्रेट की कुर्सी पर है, यानी भीख और कमाई मे फर्क है।

अगर हाथ फैलाने वाले ने अपने पीछे कुछ जोड रखा है, तो उसका हाथ फैलाना धोखा देना है। तब कानून उसे देखेगा।

सजा मिलने पर जब हम ऐसे आदमी के बारे मे सोचते हैं तो दया नहीं आती, गुस्सा आता है। हम उसे धूर्त (दूसरे शब्दों मे चतुर) मानते हैं। हमे उत्सुकता होती है कि जानें उसने कैसे इतना रुपया जमा कर लिया होगा। बदमाश अच्छा हुआ पकडा गया और सजा मिली। हो सकता है कि उसकी सजा पर हमारे सन्तोष का कारण यह हो कि हमारी भरी जेब पर से इस तरह एक खतरा दूर हुआ। और झुँझलाहट का यह कारण हो सकता

है कि पाँच हजार रुपये उसके पास क्यो पहुँचे, जो कहीं हमारे पास आते !

अब दूसरे भिखारी की कल्पना कीजिए जो सचमुच असहाय है। जितने दाने उसके हाथ पर डाल देंगे, उतने से ही वह अपनी भूख मिटाने को लाचार है। इस आदमी को पकड़ने के लिए कानून का सिपाही कष्ट नहीं करता, क्योंकि आसानी से लात-घूसे मार-कर या मनुष्यता हुई तो धेला-पैसा फेककर उसे अपने से टाला जा सकता है।

अब मन की बात सच कहिए। वह चतुर ठग और यह निपट भिखारी, दोनो मे आपको कौन कैसा लगता है ? चतुराई के लिए आप एक को जेल देंगे और मोहताजपन के लिए दूसरे को दया; यानी एक की व्यवस्था करेंगे, दूसरे को उसके भाग्य पर छोडेंगे। सच पूछिए तो दीन भिखारी से आपको कष्ट और अमीर भिखारी से आपको गुस्सा होता है, अर्थात् जो ठगी से अपनी सहायता कर लेता है, वह आपको ताहम आदमी मालूम होता है। पर जो उतना भी नहीं कर सकता और निपट आपकी दया पर निर्भर ही रहता है, वह आपकी आँखों मे उससे गया-बीता है। मालूम हो जाय कि यह जो आपके सामने हाथ फैला रहा है, उसकी झोली मे हजार रुपये हैं, तो आप उसे ग़ौर से देखेंगे, उसमे दिलचस्पी लेगे। अपनी कक्षा से उसे एकदम अलग और तुच्छ नहीं मानेंगे।

पर वह भिखारी जो काया से सूखा है और पेट का भूखा, आप चाहेंगे कि वह आपकी आँखों के आगे पड ही जाय तो जल्दी-से-जल्दी दूर भी हो जाय। आप यथाशीघ्र पैसा फेककर या रास्ता काटकर उससे अपने को निष्कंटक बना लेना चाहेंगे, अर्थात् झूठ-मूठ के भिखारी का आप क्रोध सह सकते हैं, सचमुच के

भिखारी का नहीं सह सकते। दूसरे मे हमे अपनी ही लज्जा मालूम होती है।

अब एक बात तो साफ है, वह यह कि पैसा चाहिए। पेट को अन्न चाहिए और अन्न यद्यपि धरती और मेहनत से होता है, पर मिलता वह पैसे से है। पैसा पहना नहीं जाता, खाया नहीं जाता, उससे किसी का कुछ भी काम नहीं निकलता। तो भी हर एक को हर काम के लिए चाहिए पैसा ही। यानी पैसे मे जो ताँबा है, उसे खाओ तो चाहे वह किसी कदर जहर ही साबित हो, फिर भी पैसे की कीमत है। ऐसा इसलिए कि वह कीमत उस (ताँबे) की नहीं, हमारी है। हमने वह कीमत दी है, इसमे हम तक और हम पर ही, वह आयद है। पैसा क्या रुपया फेंकिए कुत्ते के आगे, वह उसे सूँघेगा भी नहीं। रोटी डालिए, तो आपकी इस उदारता के लिए जाने कितनी देर तक अपनी पूँछ हिलाता रहेगा, यानी, फर्जी के सिवा रोटी से अधिक पैसे का मूल्य नहीं है।

पैसे के मूल्य को हम कैसे बनाते है और उसे कैसे थामते हैं, यह एक दिलचस्प विषय है। लोग कहेंगे 'अर्थ-शास्त्र' का, पर सच पूछिए तो यह काम-शास्त्र का विषय है। काम का अर्थ यहाँ कामना लिया जाय। कामना के वश व्यक्ति चलता है। इस तरह पैसा असल मानव-शास्त्र का विषय है। व्यक्ति के मानस से अलग ताँबे के पैसे का अठखेलियो को समझना बिजली के बटन से अलग उसके चिराग को समझने जैसा होगा। कठपुतली खेल कर रही है, नाच कूद दिखाती है, पर पीछे उसके तार थमे है बाजीगर की उँगलियो मे। पर वह तार हमे दीखता नहीं, बाजीगर दुबका है और सामने कठपुतलियों का तमाशा दीखता है। बच्चे तमाशे मे मग्न होते है. पर समझदार तमाशा देखने या दिखाने के लिए कठपुतलियों से नहीं बाजीगर से बात करेंगे। पैसे के बारे मे भी यही मानना चाहिए। उसका व्यापार आदमी

के मन के व्यापार से वैसे ही दूर है, जैसे आदमी की उंगली से कठपुतली या बिजली के बटन से लट्टू दूर है। बीच का तार दीखता नहीं है, इसलिए वह और भी अभिन्न भाव से है, यह श्रद्धा रखनी चाहिए।

पर कहीं यह अर्थ लेकर अनर्थ व्यापार न समझा जाय। हम शास्त्रीय अर्थ नहीं जानते। किन्तु देखा है कि अर्थ-शास्त्र सीखने वाला उस अर्थ-शास्त्र को सिखाने वाला ही बनता है, उस शास्त्र-ज्ञान के कारण कभी अर्थ स्वामी तो बनता हुआ वह पाया नहीं गया। अपने अर्थ-शास्त्र को पढवाने के लिए ऊपर का अर्थ स्वामी ही अर्थ-शास्त्रियो को अपने अर्थ मे से वेतन देने का काम जरूर-जरूर करता रहता है। इससे प्रकट है कि अर्थ का भेद अर्थ शास्त्र मे नहीं है, अन्यत्र है।

थोड़ी देर के लिए पैसे का पीछा कीजिए। इस हाथ से उस हाथ, उस दूसरे से फिर तीसरे, फिर चौथे, इस तरह पैसा चक्कर काटता है। उस बेचारे के भाग्य मे चकराना ही है। कहीं वह बैठा कि लोग कहेगे कि क्यो रे, तू बैठा क्यों है, चल अपना रास्ता नाप। किन्तु पैसे को अपनी यात्रा मे तरह-तरह के जीव मिलते है। एक उसे छाती से चिपटाकर कहता है कि हाय, हाय, मेरे पैसे को छेड़ो मत, मेरी छाती के नीचे उसे सोने दो।

पर, पैसे बेचारे की किस्मत मे आराम बदा हो तो सभी कुछ न रुक जाय। इससे यदि उन प्रेमियो का प्रेम पैसे की काया को छोडना नहीं चाहता, तो उसका बड़ा दुष्परिणाम होता है। यह तो वही बात है कि खून हमारे बदन मे दौड़ रहा है और कोई अवयव कहने लगे कि तू कहाँ जाता है, यहीं मेरे पास रुक जा। फोडे जो बदन मे हो जाया करते है, सो क्यो? किसी खास जगह खून की गर्दिश ठीक नहीं होती, इसी वजह से तो। यह जुदा बात है कि फोड़े भी होते असल मे शरीर की स्वास्थ्य-रक्षा के निमित्त

है। ऐसे ही कौन जाने, समाज के शरीर मे कचन की काया के प्रेमी भी किसी अच्छाई के निमित्त बनते हो। पर फोडा फूटता है और कचन-प्रेम भी टूटता ही है। ऐसे ही पैसा बीच मे थककर बेचारा साँस लेने को रुके, तो बात दूसरी, वैसे किसी के आलिंगन मे गाढी नींद सोने की उसे इजाजत नही है। इस निरन्तर चक्कर मे बेचारा पैसा घिस जाता है, मूरत और हरूफ उस पर नहीं दीखते, तब मुँह छिपाकर जहाँ से आया वहीं पहुँचता है कि फिर उसे पुनर्जन्म मिले।

अभी थोड़े दिन पहले रानी का रुपया खिंच गया। अब आपकी गद्दी के नीचे कोई रानी का सिक्का सोया मिल जाय, तो क्या आप समझते हैं उसे सोलह आने को कोई पूछेगा? अजी, राम का नाम लीजिए। सिक्के मे कीमत थोडे थी। जैसे डाली गई थी वैसे वह कीमत खींच ली गई। अब रानी के सिक्के क्या है, ठन-ठन गुपाल है। बस मूरत देखिए और मन भरिए।

इस पैसे की यात्रा का वर्णन कोई कर सके, तो बडा अच्छा हो। शास्त्रीय प्रतिपादन नहीं, वह तो आडम्बर है और बेजान है। वर्णन, जैसे कि अपनी यात्रा का हम करते है—यानी सचित्र और जीवन की भाषा मे। मैं मानता हूँ कि पैसे के तथ्य का किसी को अनुभव हो और उसके पास कल्पना भी हो, तो वह पैसे की असलियत पर एक अत्यन्त सुन्दर उपन्यास हमे दे सकता है। पर, पैसे के साथ दुर्भाग्य लगा है। वह कमबख्त है शक्ति। जिसने भी उस शक्ति को समझा, वही उस शक्ति को बटोरने मे लग गया। अब कहा जायगा कि इस जीवन मे शक्ति का सग्रह भी न किया जाय तो आखिर किया क्या जाय? कुछ कहेगे, धर्म का सग्रह किया जाय। और सच, कुछ जैसे सामान बटोरते है वैसे पुण्य भी बटोरते देखे जाते हैं पर हाय, धर्म का सग्रह ही किया जा सकता, तो क्या बात थी। तब ऋषि कुछ ही न बनाकर गोदाम बनाते। अरे, वह

तो सोने की जगह साँस के संग्रह के उपदेश जैसा है, अर्थात् अपने को लुटाओ, इसी में धर्म का अर्जन है। अब इस बात को कोई कैसे समझे और समझाये? पैसा खरचे बिना कभी जुड़ता है? और जो रुपया छोड़ सकता है, वही अशरफी जोड़ सकता है। यह क्या हम रोज आँखों नहीं देखते कि जिसकी जहाँ मुट्ठी बँधी कि वह मुट्ठी उतनी ही भरी रह गई। रुपये पर मुट्ठी लाने के लिए पैसे पर उसे नहीं बँधने देना होगा, अर्थात् लाखों की कमाई हजारों लगाए (गँवाए) बिना न होगी। इसी तरह धर्म की कमाई धन उजाड़े बिना न होगी। बात यह है कि धर्म है प्रीति। प्रीति और शक्ति में शत्रुता है। शक्ति के जोर से और सब हो जाय, प्रीति नहीं होती। इसलिए जो प्रीति कमाये, वह शक्ति खो दे।

पर यह मैं क्या कह चला? कह रहा था कि पैसे का उपन्यासकार चाहिए। वह पैसे की काया पर न रीझे न उसकी शक्ति पर जूझे, बल्कि उसके सत्य में ही वह तो अपनी आँख रखे। पैसे की शक्ति दिखलाई तो भला क्या दिखलाया? यह तो माया दिखलानी हुई। उसे पैसे की अकिंचित्करता दिखलाई जा सकेगी, तभी मानो उसकी सत्यता प्रकट होगी। जैसे आदमी प्रेम में अपने को खोकर पाता है, वैसे ही निकम्मा दिखलाकर पैसे के असली मूल्य को पहचाना और बताया जा सकेगा।

मेरे हाथ में मानिए कि रुपये का एक नया सिक्का आया। वह कहाँ से आया? मैंने कुछ मेहनत की, उस मेहनत का किसी के अर्थ में उपयोग के रास्ते मेरी मेहनत में से अपना रुपया, और ऊपर कुछ और भी अतिरिक्त पाने की उन्हें उम्मीद है। इसलिए अपनी मेहनत का फल उन्हें देकर यह रुपया मैंने पा लिया। अब आता हूँ घर! वहाँ श्रीमती जी बोलीं कि माथे की बिन्दी की कब से कह रही हूँ, लाये? यानी अगले दिन मेरे हाथ से वह सिक्का बिन्दी वाले के यहाँ पहुँच जाता है। 'इसी तरह हम कल्पना कर

सकते है कि कैसे वह आदमियों की आवश्यकताएँ पूरी करता हुआ परस्पर का आदान-प्रदान का काम चलाता है।

अब परस्पर का आदान-प्रदान पैसे के माध्यम से होता है, पैसे के उद्देश्य से नहीं होता। प्रेम मे व्यक्ति अपने सर्वस्व का दान कर देता है। प्रेम वह है, जहाँ देने के जवाब मे लेने की भावना ही नहीं, अर्थात् मैं यहाँ चाँदी के एक सिक्के की बात कर रहा हूँ। प्रेम के क्षण मे लाखों निछावर हो गए हैं, अर्थात् पैसा जो यहाँ से वहाँ घूमता फिर रहा है, वह अपनी ताकत से नहीं, बल्कि हमारे मन की ताकत से। यह नहीं कि धन मे ताकत नहीं है। ताकत तो है, पर रेल के इजन-सी ताकत है। अब, इंजन क्या अपने-आप चलता-फिरता है? यह कहना कि पटरी पर इजन चलता है, ठीक है। हिन्दुस्तान की रेलों का इन्तजाम जिन सरकारी मेम्बर साहब के ऊपर है सैकड़ों-हजारों इंजन और उनके चलाने वाले और उनके कलपुर्जे समझने वाले अपनी हरकत के लिए उनके तावे है। और वह मेम्बर महाशय इजन पर नहीं, बल्कि कुछ और ही गहरी नब्ज़ पर निगाह रखते है। पर सवारीगाड़ियाँ और मालगाड़ियाँ जाने कितने हजार व लाख टन सामान और इन्सान खींचती हुई दिन-रात इधर-से-उधर आ-जा रही हैं। अपने दफ्तर मे बैठे मेम्बर महाशय की क्या कहिए, उस रोज़ उनसे डबल वजन का आदमी इजन के नीचे आ गया था। उसका हाल अपनी आँखों क्या आपने देखा नहीं था? अजी, आदमी और आदमियत का तो वहाँ पता-निशान बाकी नहीं रह गया था, यहाँ-वहाँ बिखरा मास ही दीखता था। हाँ यह है, पर दूसरी बात भी है। इजन की ताकत सच है, पर उन मेम्बर साहब की ताकत उस सच का भी अन्दरूनी सच है। उन्हीं की कलम तो थी जिससे पचास इंजन बेचारे बक्स में बन्द होकर विलायत से हिन्दुस्तान लदे चले आए और चालीस इंजन, जो मानते थे कि हममें अभी

सिमकने लायक कुछ जान है. उनकी एक न सुनी गई और अजर-पजर तोडकर उन्हे लोहे के ढेर पर फेक दिया गया।

चॉदी का सिक्का जैसा सच है, लोहे का इजन भी वैसा ही सच है। फर्क इतना ही है कि सिक्का छोटा और हल्का होने से सचाई मे इजन की निस्बत बडा और भारी है। इजन इतना बोझिल है कि उसी से वह सचाई मे हल्का है। तभी तो चॉदी के रुपये और सोने के पौण्ड से कागजी नोट कीमती होता है। कारण, वह चॉदी-सोने से हल्की और सस्ती वस्तु कागज का बना है, अर्थात् नोट में अपनी असलियत उतनी भी नहीं है, जितनी सिक्के मे है। लगभग अपनी ओर से वह शून्य है। हम उसमे डालते हैं, तभी कीमत की सचाई उसमे पड़ती है। इसीलिए जैसे-जैसे उन्नति होगी, कागजी सिक्का बढ़ेगा, धातु का सिक्का बेकार होता जायगा। सिक्के मे कीमती धातु की जरूरत अविश्वास के कारण है, यानी वह झूठी कीमत है। फिर भी वह कीमत इसलिए है कि सच्ची कीमतो का अभी निर्माण नहीं हो पाया है। उदाहरण के लिए लीजिए, दस्तावेज। वचन झूठा है, तभी दस्तावेज की सचाई आती है, कौल सच्चा हो, तो दस्तावेज बेकार हो जाना चाहिए।

इस सबका मतलब यह कि पैसे की कीमत और शक्ति आदमी की भावना की कीमत और शक्ति से अलग नहीं है। अर्थ-शास्त्र के नियम जीवन-शास्त्र के नियम से भिन्न नहीं है। यदि वे भिन्न-से लगते हैं, तो इस कारण कि मनुष्य ने कामना मे अपनी स्वतन्त्रता देखी है, जबकि वह स्वतन्त्रता निष्कामता मे है। जो वह चाहता है और जिसको सुख का नाम देता है, समझता है उसकी कुञ्जी 'स्वर्ण' है, जैसे प्यासा हिरन रेगिस्तान पर की लू की झलझलाहट को पानी समझता है। पर स्वर्ण मे सुख होता तो स्वर्णा-

होगा कि लाख के बाद करोड़ और करोड के बाद अरब पर आँख गडाए वे भागे जा रहे है, तो इसीलिए कि लाख मे जो समझा था वह नहीं मिला और फिर करोड मे जो समझा वह करोड़ मे भी नहीं मिल रहा है।

हमने ऊपर देख लिया कि सिक्के मे अपने-आप मे दम नहीं है। अगर एक मे दम नही है, तो करोड मे भी नहीं हो सकता। जिसमे आन्तरिक कुछ है ही नहीं, उसके पहाड़ जैसे ढेर मे भी कुछ कहाँ से आ जायगा? मरीचिका मे कुछ है तो यही कि वह मृगतृष्णा को प्यासा-का-प्यासा ही रखती है। धन भी जमा होकर अपनी इस सचाई को उजागर कर देता है कि मुझमे अपना कुछ नहीं है। मेरी काया मे तुम्हारी ही तृष्णा भरी है। तुम अपनी ओर से तृष्णा न डालकर मुझमे कोई दूसरी भावना डालोगे, तो फिर वह भी मेरी सचाई हो सकेगी। पर तृष्णा की राह से लोगे, तो सिवाय इस तृष्णा के मैं तुम्हे और क्या लौटा सकूँगा? मुझसे तुम्हे सुख नहीं मिलता, इससे मुझे प्यार करके भी तुम मुझे कोसते हो। पर कोसो मत, क्योंकि मैं खोखला हूँ। तुम जो मरते हो, उसी से मैं मर जाता हूँ। इससे मैं इस लायक नहीं हूँ कि मुझसे तुम कुछ चाहो या मुझे ही चाहो, क्योंकि तुम्हारी ही भूखी चाह मैं तुम्हारे आगे कर सकता हूँ। इससे तुम्हे सुख नहीं होता, न ही होगा। पर तुम मानते हो कि अभी मेरे परिणाम मे कमी है, इससे मुझे और जोड़ते हो। मुझे ही जोड़ते, फिर भी मुझे ही कोसते हो। मै बताता हूँ कि मैं अन्दर से रीता हूँ, मेरा सारा ढेर रीता है। जो तुम चाहते हो, वह मैं नहीं। मैं उसका द्वार हो सकता हूँ और प्रार्थना है कि मुझे तुम द्वार ही समझो, अधिक न समझो। दरवाजे को ही तुम मंजिल समझोगे, तो दरवाजा इसमें क्या करेगा? मंजिल की तरफ वह तुम्हे बढ़ा सकता है, पर तभी जब तुम उससे पार जाओ।

आज के ज़माने मे बुद्धि इसी भूल मे पड़ गई है। लिफाफे को उसने खत समझा है। इससे खत नहीं पढती, लिफाफे को ही देखती-समझती रह जाती है। इसी से शाखा-विज्ञान बहुत बन गए हैं, और बीच का मेरुदण्ड सूखते रहने को छोड़ दिया गया है, यानी विद्याएँ बहुत हो गई हैं, पर जो इन सब विद्याओं का आधार होना चाहिए, अर्थात् 'ते सर्वभूतात्मरूप ब्रह्म' वह उपेक्षा मे रह गया है। परिणाम यह है कि अवयव सब पकड़ते है और हृदय को सब छोडते है। इस प्रकार की खण्डित विद्या क्या अविद्या नहीं है? क्या उस अविद्या का ही परिणाम आज के युद्ध की भीषणता नहीं है?

पर हम दूर आ गए। बात कमाई और भिखाई की शुरू हुई थी। कमाई किसे कहते है? धन अपने चक्कर पर आ-जा रहा है। नदी बहती है, कुछ उसमे नहाते है, कोई उससे खेत के लिए पानी लेते हैं, कुछ उसको देखकर ही आनन्द प्राप्त करते है। नदी अनेकों के अनेक प्रयोजन पूर्ण करती हुई समुद्र मे मिलने के लिए बहती ही चली जाती है। ऐसे ही धन अपने बहाव मे सबके प्रयोजनों को पूरा करता हुआ चलते चले जाने के लिए है। इस प्रक्रिया मे कमाई क्या है? सच कहूँ तो उस कमाई का मतलब मेरी समझ मे नहीं आता। हरिद्वार की गगा प्रयाग आई, जो पानी हफ्ते पहले हरिद्वार था, अब प्रयाग आ गया। क्या इस पर प्रयाग यह सोच सकता है कि हरिद्वार से हमने इस हफ्ते गंगा के इतने पानी की कमाई कर ली?—प्रयाग ऐसा नहीं सोच सकता।

पर हम ऐसा सोच सकते है, क्योंकि हम बुद्धिमान् है। मेरी तिजोरी मे आज दस हजार रुपये है। बाजार मे बैठा था, तब गाँठ मे क्या था? यही सौ एक रुपल्ली होंगे। तीन साल मे दस हजार रुपये की मैंने कमाई की। वाह, क्या बात है! मैं अपने से

खुश हूँ, कुनबे वाले खुश ह और सब मानते हैं कि मैं होनहार और कर्मण्य हूँ। यह कमाई है।

अब चलिए, मैंने तो बाजार मे तीन साल लगाये, घूमा-फिरा और मेहनत की। पर वह देखिए, क्या भाग्य का सिकन्दर आदमी है! लडाई आई कि रग मे दो दिन मे पन्द्रह हजार पैदा किये! हल्दी लगी न फिटकिरी और देखते-देखते मालामाल हो गए! लक्ष्मी की लीला ही तो है। अब सब उस भाग्य के बली और लक्ष्मी के वरद पुत्र से ईर्ष्या करते है। यह कमाई है।

एक मजदूर टोकरी ढो रहा है। जेठ आ रहा है, लू चल रही है, पसीना बह रहा है और वह टोकरी ढो रहा है। सूरज छिप चला, वह थक गया है, घर पर इन्तजारी होगी, पर वह टोकरी ढो रहा है। आखिर लाला को याद आई। उन्होंने छ आने दिये, यह छ' आने की कमाई है।

एक मित्र है। उनकी खूबी यह है कि वह अपने पिता के पुत्र है। उनके पिता की खूबी थी कि वह अपने पिता के पुत्र थे। और पीछे चलें तो पॉच पुश्त पहले वश में एक पुरुषार्थी हुआ था। उसने सामन्ती जमाने मे अपना गिरोह इकट्ठा करके एक नगर जीता और काबू किया था। उसने अपने शत्रुओ पर विजय पाई, यानी उन्हे यमराज का घर दिखाया था। उस परम पुरुषार्थ के कारण उस पुरुष के पुत्र और उसके पुत्र तथा उसके पुत्र, इस तरह उस परम्परा के अन्तिम पुत्र होने की खूबी से मेरे मित्र की कमाई आज तीस हजार रुपये साल की है। वह कहॉ से है, उनकी जायदाद और जमीदारी कहॉ-कहॉ है, इत्यादि मित्र को पूरी तरह पता नहीं है। पर कमाई उनकी तीस हजार है।

एक और भाई साहब हैं—अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि, उदार, ज्ञानी और सुशील। वह कलक्टर कहलाते हैं। उनका काम है कलक्टरी। उनकी कमाई है पच्चीस हजार रुपया साल।

और एक वाइसराय है। वाइसरायगिरी करते है, जो बेहद जिम्मेदारी का काम है। उनकी कमाई की मुझे कूत नहीं। वह भी खासी होनी चाहिए, क्योंकि पसीने की वह नहीं है। पसीने की कमाई ही इतनी कम हो सकती है कि पेट न भरे, क्योंकि पेट भरेगा तो मेहनती मेहनत से जी चुराएगा। इससे अक्ल की ही कमाई को हक है कि वह लम्बी-चौड़ी हो। मेहनत की कमाई अधिक होगी, तो उससे मेहनती का नुकसान होगा।

खैर, ऊपर तरह-तरह की कमाइयाँ गिनाई है। इन सबमे दो बाते सामान्य है, जिनकी वजह से वे सभी कमाई कहलाती है। एक तो यह कि कमाई करने वाला जेल नहीं जाता, इस कारण उसको चुराई या ठगाई हम नही कह सकते, कमाई ही कह सकते है। दूसरे यह कि हर कमाई, जिसकी वह समझी जाती है, उसकी जेब (बैंक हिसाब) मे आकर पड़ती है।

इससे दो मूल सिद्धान्त समझे जा सकते है.

१—कहीं से चलकर जो रुपया हमारी जेब या तिजोरी मे आये वह हमारी कमाई है।

२—शर्त यह है कि उसमे हमे जेल न हो, यानी वह वैध हो।

अर्थात् वह सब रुपया हमारा कमाया हुआ है, और उस सब रुपये पर खर्च करने का हमारा हक है, जो इस तरह से या उस तरह से, इस जेब से या उस जेब से, हमारी मुट्ठी तक आ जाता है। सीमा यह है कि इस तरह खर्च करने वाला खुले समाज मे हो, बन्द जेल मे न हो।

सीमा की शर्त बहुत जरूरी है। कमाई और ठगाई मे वही भेद डालने वाली रेखा है। जेल पा गए, तो तुम्हारी कमाई कमाई नहीं मानी जायगी। जेल पाने से बचे रहे, तो बेशक तुम्हारी कमाई कमाई है, और तब अपने धन के परिणाम मे ही तुम्हारी ऊँचाई की नाप होगी।

यह तो हुआ, पर भीख से पैसा पाने की विधि को मैं कहाँ रखूँ ? उसमें भी पैसा आता है और जेल बची रहती है। भिखारी जेल पा गया तो गया, पर जेल के बाहर भिखारी के पैसे को कमाई का पैसा कैसे न माना जाय, यह मेरी समझ में किसी तरह नहीं आता है।

आप कहेंगे मेरी भाषा में व्यंग्य है। पर मैं सच कहता हूँ कि कमाई अगर सच्ची हो सकती है तो वह भीख की ही कमाई है, नही तो कमाई शब्द ही एकदम झूठा है।

पैसा मेरी जेब मे आना कमाई है, बेशक, सिफ्त यह कि मुझे जेल न मिले। अब सवाल है कि दूसरे की जेब से, या मेहनत से, मेरी जेब मे पैसा आता कैसे है ? इसके कई तरीके है।

पहला गुण लोभ कहा जा सकता है। इसलिए अपनी चीज के लिए दूसरो मे लोभ पैदा करना कमाई बढाने का पहला उसूल है। विज्ञापन और बिक्री की कला यही है। लोभ हुआ कि काम जागा। तब उस जेब से पैसा निकलकर आपकी जेब मे आने से रुकेगा नहीं।

दूसरा है गरज। अकाल है और लोग भूखे है। सबको अन्न चाहिए। अब जिसके पास अन्न है, उसने दाम चढ़ा दिए। इस तरह खिचकर पैसा आ गया।

तीसरा है डर और अविश्वास। आगे का क्या ठिकाना, जाने कब मौत आ टूटे। तब बाल-बच्चो का क्या होगा ? आग है, रोग है, चोर-डाकू हैं। इससे लाइए हमारे पास बचा-बचाकर जमा करते जाइए। हम ऊपर से ब्याज और जाने कितना और देंगे। यह भी पद्धति है जिसमे उपकार और कमाई दोनों साथ होते है।

या वह है जिसका नाम इडस्ट्री (भीमोद्योग) है—हजारों मेहनती और भीमाकार यत्र। मेहनती मेहनत करते हैं, यत्र चलता है और कमाई मोटी होती है। इसका रहस्य उद्योग की भीमता में

है, यानी हजारों का श्रम सु तकर एक केन्द्र मे पडता है । एक की एक-एक बूंद बचे तो हजारों हो जाती है, और बूंद बूंद से घडा भरता है तो हजार-हजार बूंदो मे क्या नहीं होता होगा ?

या जोर-जबरदस्ती है, लेकिन उसके पीछे कोई कानूनी बल चाहिए, जैसे जमींदारी, अफसरी इत्यादि ।

एक तरीका जो बारीक है, उसका नाम सट्टा है । वह खेल सम्भावनाओं पर चलता है । उसमे भी तृष्णा उकसाकर जेबों का पैसा निकाला जाता है और वह गिनी-चुनी जेबो मे बह जाता है।

एक आम तरीका है, जिसको नौकरी कहते हैं। इसमें नौकर पैसा खींचता नहीं, पैसा पाता है । यानी उसके इस्तेमाल से पीठ पीछे बैठा हुआ दूसरा कोई आदमी, जो पैसा खींच रहा होता है, वह नौकर को जिन्दा और काम लायक रखने के लिए उसे खाने-पीने को कुछ देता रहता है ।

इनके बाद करुणा के जोर से भी किसी जेब से पैसा निकलवाया जा सकता है । दान और भिक्षा मे अधिकतर यही वृत्ति रहती है ।

रुपया फिर प्रीति के नाते भी हस्तान्तरित होता है, जैसे मित्र की सहायता, परिवार का पालन आदि । वहाँ रुपये के लेन-देन मे किसी एवज़ का भाव नहीं रहता ।

इन सब पद्धतियों मे रुपये का आना-जाना जहाँ प्रेम के कारण होता है, उसको मैं सबसे उचित समझता हूँ । उसमे न देने वाले को देने का, न लेने वाले को ही अपने लेने का पता रहता है मानो अपने सम्बन्धों के बीच पैसे की वहाँ किसी को सुध ही नहीं है। पैसे का यह आदान-प्रदान बन्धन नहीं पैदा करता, दोनो ओर आनन्द की ही सृष्टि करता और उनके बीच घनिष्ठता लाता है। पर इस कोटि के आदान-प्रदान मे कमाई शब्द काम मे नहीं आ सकता । पिता ने पुत्र को सौ रुपये दिये तो इनमे पिता को सौ का

घाटा हुआ और पुत्र को सौ का लाभ हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। दूसरे की जेब से निकलकर अपनी जेब मे आना कमाई है, पर वहाँ दो अलग-अलग जेबे ही नहीं है।

सच पूछिए तो मै वही स्थिति चाहता हूँ, जहाँ कमाई खत्म हो चुकी है, जहाँ जीवन की आवश्यकताएँ ही पूरी होती है। न आने वाले पैसे के प्रति लोभ हैं, न उसके आन में चतुराई का प्रयोग या अहसान का अनुभव है।

उससे हटकर कमाई की जो और कोटियाँ हैं, उनमें करुणा की प्रेरणा से जहाँ पैसा आता-जाता है, वह श्रेष्ठतर मालूम होता है। वह है दान, भिक्षा। करुणा प्रेम से भिन्न है। करुणा मे बन्धन है और आत्मा पर दबाव है। उसमे दयावान् और दया-पात्र मे कक्षा-भेद हो जाता है, यानी उससे दो व्यक्तियो के बीच समत्व-सम्बन्ध का भग होता है। इसमे करुणा-प्रेरित दान अन्त मे सामाजिक विषमता और जडता उत्पन्न करने का कारण होता है। उससे दोनो ओर आत्मा को प्रसार और विस्तार नहीं प्राप्त होता, बल्कि कुण्ठा और सकुचन होता है। मानो शिक्षा देने वाला भी भिखारी के सामने अपने को किंचित् लज्जित अनुभव करता है, अर्थात् पैसे का इस प्रकार आदान-प्रदान भी इष्ट और उत्कृष्ट तो नहीं है। अर्थात् यह कोटि पहले से उतरती हुई है, पर तीसरी कोटि से अच्छी भी हो सकती है।

तीसरी है नौकरी और मजदूरी की कमाई की कोटि। बिलकुल हो सकता है और शायद है कि नौकर और मज़दूर जिसकी मजदूरी करता है, उसके प्रति अन्दर से एकदम अश्रद्धा के भाव रखता हो। तब जो उनके बीच श्रम और वेतन का आदान-प्रदान है, वह दोनो ओर हीनता और दूरी व द्वेष पैदा करने का कारण होता है।

चौथी अथवा अन्य कोटियाँ जहाँ लोभ, भय, अविश्वास

उकसाकर या केन्द्रीकरण द्वारा लाभ किया जाता है. सबसे प्रचलित और सबसे वैध है। पर मुझे वह निकृष्ट मालूम होती है।

पाँचवीं है लाचारी से लाभ। यह निन्द्य है और कानून की उस पर रोक-थाम भी की जाती है।

बिना मेहनत अमुक के पुत्र और पौत्र होने के बल पर जो बडी-बड़ी कमाइयों की सुविधा मिल जाती है उसका भी औचित्य विशेष समझ मे नहीं आता। जरूरी नहीं है कि एक प्रतिभाशाली पिता के पुत्र को अपनी पैतृक प्रतिष्ठा से हीन रखा जाय। पर स्वय कर्महीन होकर वह अपने पिता की प्रतिभा के फलो को बैठा-बैठा खाया करे, यह उचित नहीं मालूम होता।

इन सबसे परिणाम निकलता है कि उत्कृष्ट स्थिति वह है, जहाँ परस्पर मे लेन-देन की भावना नहीं है, एक-दूसरे के हित के काम आने की भावना है। इन सम्बन्धो पर आश्रित परस्पर का व्यवहार ही सच्चा व्यवहार है। अपने को और समाज को हमे उसी तक उठाने का प्रयत्न करना होगा।

पर उससे उतरकर आदमी-आदमी के बीच करुणापूर्ण व्यवहार मुझे पसन्द है, अर्थात् कमाई की रोटी नहीं, दान और भीख की रोटी मुझे पसन्द है।

इस बात पर तनिक रुककर मुझे अपने को साफ करना चाहिए।

मैंने पुस्तक लिखी और प्रकाशक से रुपये पाये। अब दो बाते है—या तो मैं उसे अपनी कमाई कहूँ या फिर मैं उसे प्रकाशक की कृपा कहूँ। मैं दूसरी बात पर कायम हूँ। कमाई मायावी शब्द है। उस शब्द के सहारे माया जुड़ती है और भीतर की सचाई नहीं जागती। सचाई है प्रेम। लेकिन कमाई शब्द मुझमे ऐसा भाव भरता है कि प्रकाशक को प्रेम देने मे मैं असमर्थ हो जाता हूँ। मानो कि मैंने किताब लिखी, तुमने पैसा दिया। बस अब हम दोनों चुकता हैं। मानो कि एक-दूसरे को समझने की आवश्यकता

और एक-दूसरे के लिए झुकने और काम आने की भावना से ही हम ऐसे चुकता हो जाते हैं, यानी हमारा आदान-प्रदान एक-दूसरे को दो किनारो पर डाल देता है और वह रुपया ही आकर बीच में खाई बन जाता है। नहीं, मैं उस रुपये को अपनी कमाई नहीं, दूसरे की कृपा मानूँगा। आप कहेंगे कि तुम हो भोले। प्रकाशक बाजार मे बैठता है और किसी को एक देता है तब, जब कि उसके दो वसूलता है। तुम्हारी किताब छापकर तुम्हे जितने दिये हैं, उससे चौगुने दाम अपने खरे न कर ले तो प्रकाशक कैसा? तुम कृपा कहते हो, पर वह ठगी है। चार मे तुम्हे एक देकर तीन अपनी जेब में डाले हैं। तुम्हारे आँखे हों तो तुम्हे कभी सन्तुष्ट न होना चाहिए। अभी एक मिलता है तो जरूर ले लो, लेकिन बाकी तीनो पर अपनी निगाह जमाये रखनी चाहिए। आपकी यह बात सही हो सकती है, पर फिर भी मैं 'उनकी कृपा' की जगह 'अपने हक' का शब्द इस्तेमाल नहीं करना चाहता, क्योंकि मैं नहीं चाहता कि दो व्यक्ति अपनी सीमाओं पर काँटे के तार खडे करके मिले। ऐसे वे कभी एक-दूसरे मे घुल नहीं सकेंगे और न उनमे ऐक्य उत्पन्न होगा। वैसे आपस मे वे सदा कतराते रहेंगे और फल उसका वैर होगा।

इस तरह मैं अपनी कमाई का खाता हूँ—इस झूठे गर्व से मैं मुक्त हो जाना चाहता हूँ। अगर ईश्वर है तो मेरा-तेरा झूठ है। अगर ईश्वर की यह दुनिया है तो उसकी अनुकम्पा पर ही हम जीते हैं। अगर ईश्वर सर्वव्यापी है तो उसकी अनुकम्पा भी सबमें है और उसी के बल पर हमे जीना चाहिए।

इस दृष्टि से जिसको बाकायदा कमाई कहा जाता है, उसको बढ़िया नहीं मानना होगा। उससे अहकार का चक्र कसता और फैलता है। उससे मैं-तू और मेरा-तेरा बढता है।

मैं जानता हूँ कि हमारे समाज मे एक चीज है, इज्जत। उसको

धुरी मानकर हमारा सभ्य जीवन चल रहा है। अरे, हरेक अपनी इज्जत रखता है। कमाई नाम का शब्द उसकी इज्जत को मजबूत और ऊँची बनाता है। वह कमाता है, इसलिए उसकी नाक किसी से क्यों नीची हो ? नवाब अपने घर का नवाब हो, अपने घर मे हम भी नवाब है। इस तरह कमाई पर टिककर हम अपना आत्म-गर्व सुरक्षित करते हैं। इस तरह हम इस लायक होते है कि किसी को अपने से छोटा समझे।

इसमे तथ्य भी हो, पर जो अतथ्य है वही मैं दिखाना चाहता हूँ। कमाई के बल पर हम सच्चे भाव मे विनम्र बनने से बचते हैं, अपने इर्द-गिर्द इज्जत का घेरा डालते है जो हमारे विकास को रोकता है। हम उससे अहम् को केन्द्रित करते हैं और फलत सेवा-कार्य के लिए निकम्मे होते हैं।

संक्षेप मे, अपने लिए मैं कमाई के धन को नहीं, कृपा के अन्न को अच्छा समझता हूँ। कमाई मे आगे की चिन्ता है, आगे का अन्त नहीं, इससे चिन्ता का भी अन्त नहीं। दस हजार है तो वह थोडे, पचास हजार है तो पॉच बेटो मे बँटकर भला वह क्या रह जायँगे ? इस तरह भविष्य के अविश्वास के आधार पर चिन्ता का पहाड़-का-पहाड़ हम अपने ऊपर ओढ़ लेते है। तब चिडिया जैसे सवेरा होते ही चहचहाती है, वैसे हम नहीं चहचहा पाते। कमर झुक जाती है, क्योंकि अनन्त चिन्ता का बोझ उस पर हम धर लेते है। मस्तक तब आकाश में नहीं उठ सकता। दूसरे का दु ख देखने की फुरसत नहीं रहती, क्योकि हम अपने और अपनों से दब जाते है।

नहीं, नहीं, विश्वास का रास्ता आस्तिक का रास्ता है। कल की शका करके आज को मैं नष्ट कैसे करूँ ? और यह सच है कि आज यदि नष्ट नहीं होगा, तो कल और पुष्ट ही होने वाला है। पर कल के दबाव मे आज को हाथ से जाने देते है, तो फिर कल भी कोरा ही रह जाने वाला है।